कृषि संकट और पलायन को मजबूर किसान:

जड़ें, निहितार्थ और नतीजे

फोकस इण्डिया प्रकाशन
दिसम्बर, 2018

सहयोग
रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफ्टुंग, दक्षिण एशिया

कृषि संकट और पलायन को मजबूर किसान:

जड़ें, निहितार्थ और नतीजे

FOCUS ON THE GLOBAL SOUTH

कृषि संकट और पलायन को मजबूर किसान: जड़ें, निहितार्थ और नतीजे

लेखक : **करण राउत**

प्रकाशन : **दिसम्बर, 2018**

द्वारा प्रकाशित : और इस पुस्तिका की प्रतियां पाने के लिए संपर्क
फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ
33–डी, तीसरी मंजिल, विजय मंडल एनक्लेव
डी.डी.ए. एस.एफ.एस. फ्लैट्स, कालू सराय, हौज खास
नई दिल्ली–110016
टेलीफोन : 91–11–26563588, 41049021
http://focusweb.org/

सहयोग : **रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफटुंग, साउथ एशिया**
सी–15, दूसरी मंजिल, सफदरजंग डेवलपमेंट एरिया मार्केट,
नई दिल्ली–110016
www.rosalux-southasia.org

"Sponsored by the Rosa Luxemburg Foundation e.V. with funds of the Federal Ministry for Economic Cooperation and Development of the Federal Republic of Germany."
"Gefördert durch die Rosa-Luxemburg-Stiftung e.V. aus Mitteln des Bundesministerium für wirtschaftliche Zusammenarbeit und Entwicklung der Bundesrepublik Deutschland"

Title Picture : Courtesy Down to Earth, Centre for Science and Environment

डिजाइन एवं मुद्रण : **पुलशॉप**, 9810213737

इस पुस्तिका की विषयवस्तु का इस शर्त के साथ बिना–रोक टोक के पुनर्मुद्रण और उद्धृत किया जा सकता है कि इस स्रोत का उल्लेख किया जाए। फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ उस प्रकाशित सामग्री को पाने पर आभारी रहेगा, जिसमें इस रिपोर्ट का उल्लेख किया गया है।

यह एक अभियान प्रकाशन है और निजी वितररण के लिए है!

विषय सूची

परिचय 5

1. कृषि का विकास: ऐतिहासिक समीक्षा 7

2. मौजूदा दौर में कृषि संकट 13

3. विकिसानीकरण और पलायन की विवशता 29

References 40

परिचय

इस पर्चे में भारत सरकार की ऐतिहासिक और मौजूदा कृषि नीतियों पर विचार किया गया है, जिनके कारण ग्रामीण कृषि संकट निरंतर गहरा होता गया। कहने की जरूरत नहीं कि भारत के गाँवों में आधे से ज़्यादा श्रमिकों के जीवन का आसरा खेती रहा है। लेकिन आज हम उनकी (खेती करने वाले और खेतिहर मजदूर दोनों) संख्या में भारी गिरावट होते देख रहे हैं। इसके साथ ही, विकास दर और देश के सकल घरेलू उत्पाद में उनकी भागीदारी में कमी आई है।

खेती छोड़ रहे श्रमिकों को उद्योग जगत खपा नहीं रहा है। ऐसे में वे बड़ी मात्रा में बेरोजगार हो रहे हैं। इस पर्चे में यह कहने की कोशिश की गई है कि देश भर में खेती के क्षेत्र में जो हताशा और संकट की स्थिति दिखलाई दे रही है वह आजादी के बाद के सरकारों की 'किसान विरोधी' नीतियों का परिणाम है।

आजादी के बाद भारत में जो कृषि विमर्श हुआ वह कृषि/भूमि से जुड़ी पुरानी समस्याओं को सुलझा पाने में नाकाम रहा। इससे बाद के सालों का कृषि विकास प्रभावित हुआ। नब्बे के दशक में नव-उदारवाद अपनाया गया। उससे स्थिति और भी अधिक बिगड़ी। तब से देश के विभिन्न हिस्सों में किसान आत्महत्या के स्तब्ध कर देने वाले आँकड़े सामने आए।

प्रस्तुत पर्चे में आजादी के बाद की सरकारी कृषि नीतियों का विश्लेषण किया गया है। इन नीतियों के सामाजिक-आर्थिक निहितार्थ के साथ-साथ यह समझने की कोशिश की गई है कैसे इनसे कृषि संकट और ज्यादा गहराया। जोर खासकर नवउदारवाद की अवधि पर है।

पर्चा तीन भागों में विभाजित है:

पहले भाग में आजादी के बाद विकास के विभिन्न चरणों में भारतीय कृषि की विशेषताओं पर बात की गई है।

दूसरे भाग में कृषि में आए बदलावों, कृषि नीतियों, कारकों और नव-उदारवाद के दौरान कृषि के बदले प्रदर्शन पर विचार किया गया है।

तीसरे भाग में मौजूदा कृषि मुद्दों और उनके प्रति सरकार के रुख पर बात की गई है। साथ ही, उन उपायों पर विचार किया गया है जो कुछ हद तक संकट दूर करने के लिए कारगर हो सकते हैं।

1. कृषि का विकास: ऐतिहासिक समीक्षा

1.1 औपनिवेशिक अवधि के दौरान कृषि

ब्रिटिश हुक्मरानों का मकसद ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा हासिल करना था। इसलिए उन्होंने किसानों को नील जैसे नकदी फसल की खेती के लिए मजबूर किया। ब्रिटिश हुकूमत के कायम होने से पहले पारंपरिक 'राजस्व अर्थव्यवस्था' थी। उसमें राजस्व की उगाही में कर, भेंट और जमीन का किराया संयुक्त रूप से शामिल होते थे। वे अलग-अलग तय नहीं किए जाते थे (Raj et al, 1985)। व्यापार और मुद्रा कोई नई बात नहीं थी। किसान स्थानीय बाजार में अनाज बेचकर राजस्व का अच्छा-खासा हिस्सा चुकाया करते थे।

औद्योगीकरण के जोर पकड़ने से कच्चे माल की माँग बढ़ी। उसे पूरा करने के लिए ब्रिटिश हुकूमत ने खेती का तेजी से व्यवसायीकरण किया। इसके अलावा, अमेरिकी सिविल युद्ध के कारण ब्रिटेन के कपड़े के कारखानों में सूत की आपूर्ति प्रभावित हुई। माँग बढ़ने के कारण कच्चे माल की कीमत भी बढ़ गई। नतीजतन, किसानों ने खाद्यान्न की बजाय नकदी फसल की खेती की ओर रुख किया।

हालाँकि, खेती का व्यवसायीकरण जबरन किया जा रहा था। किसान अपनी उपज का बड़ा हिस्सा अपनी तात्कालिक जरूरतों को पूरा करने के लिए जरूरी नकदी के लिए बेचने को मजबूर थे। व्यापारियों और महाजनों के कारण किसान बाजार भाव पर अधिक निर्भर रहने के लिए मजबूर थे। जमीन का लगान ज्यादा था। उसे चुकाने के लिए किसानों को महाजनों से कर्ज लेना पड़ता था।

कर्ज के बोझ तले दबे किसान ब्याज चुकाने के लिए अपनी उपज का अच्छा-खासा हिस्सा बेचने को मजबूर थे (Mukherjee, 1985)। ब्रिटिश हुकूमत मुख्य तौर पर भू-राजस्व और भारतीय खेती के अधिशेष पर निर्भर थी। स्थाई बंदोबस्त और रैयतबाड़ी के रूप में किए गए नए भू-बंदोबस्त ने जमीन के विनिमय को मुमकिन कर दिया (Raj el al, 1985; Padhi, 1985)। नई व्यवस्था में जमीन की खरीद-बिक्री, नीलामी और पट्टेदारी को कानूनी वैधता मिल गई। अब जमीन किसी की निजी मिल्कियत हो सकती थी। परिणामस्वरूप धनी जमींदारों का एक नया वर्ग वजूद में आया। इसके साथ ही, नई भू-व्यवस्था के कारण खेती की जमीन के और भी अधिक टुकड़े हुए, बिचौलिए पट्टेदारों का उभार हुआ, पट्टे की अवधि और किरया बढ़ा, अनुचित कर और सूदखोरी ने जोर पकड़ा

(Ramakumar, 2010)। एक तरफ तो इससे भूमिहीनों की संख्या बढ़ी, वहीं दूसरी तरफ खेतिहर मजदूरों की संख्या में इजाफा हुआ। औपनिवेशिक शासन ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था को और भी कमजोर किया, जो क्रूर सामंती संबंधों, शहर में रहने वाले भूस्वामियों, जमींदारी, बंधुआ मजदूरी, अत्यधिक शोषणयुक्त पट्टेदारी के कारण खस्ताहाल थी।

1.2 आजादी के बाद का दौर

आजादी के बाद अर्थव्यवस्था के विकास के लिए राष्ट्रीय योजना के रूप में तत्काल पहल की गई। लेकिन पंचवर्षीय योजना रही हो या कृषि योजना, जमीन की मिल्कियत में सुधार के जरिए ढाँचागत असमानता को दूर करने और इस तरह, सभी तरह के सामंती शोषण को खत्म करने पर विचार नहीं किया।

रामचंद्रन (2011) के मुताबिक, 'असल कृषि सुधार वर्ग संबंधों में बदलाव लाता है। यह श्रमिकों के पक्ष में होता है। मांग संबंधी अवरोधों को खत्म कर घरेलू बाजार सुलभ करता है और व्यापक उत्पादक निवेश के लिए जमीन तैयार करता है। इसलिए कृषि अर्थव्यवस्था में विकास के लिए भूमि संबंधों में मूलभूत बदलाव की जरूरत थी। आजादी के राष्ट्रीय आंदोलन में भी जमींदारी और पारंपरिक काश्तकारी के उन्मूलन प्रमुख वादे थे। आजादी की लड़ाई में किसान 'जमीन किसकी जो जोते उसकी' नारे के खिंचाव में आकर शामिल हुए। उस दौरान भूमि अधिकारों के मिलने की उम्मीद लेकर बड़ी संख्या में किसान और खेतिहर मजदूर आजादी के संग्राम में कूद पड़े।

आजादी के बाद समाजवादी सोच के तहत सुधार कार्यक्रम शुरू किया गया। उसमें जमींदारी उन्मूलन, सीलिंग, भूमिहीनों को जमीन बाँटने के लिए प्रोत्साहन आदि जैसे उद्देश्य शामिल थे। लेकिन उन्हें अमल में नहीं लाया जा सका। शासक वर्ग ने विश्वासघात किया। भूमि सुधार का कार्यक्रम एक बड़ी असफलता रही। हालाँकि केरल और बंगाल जैसे राज्यों में जमीन के वितरण का कार्यक्रम सफल रहा।

आजादी के समय भारतीय कृषि पिछड़ी हुई थी। उसमें उपनिवेशवाद के दिनों के शोषण भरे सामंती संबंधों के अवशेष बचे हुए थे। उत्पादन और उत्पादकता का स्तर निम्न था, सिंचाई व्यवस्था सामान्य थी, जमीन और बीज की गुणवत्ता निम्न थी। इसके साथ ही, भोजन की प्रति व्यक्ति उपलब्धता निम्न थी। बल्कि 1918 और 1947 के बीच कभी-कभी यह 200 किलो प्रति व्यक्ति से कम होकर 150 किलो प्रति व्यक्ति तक पहुँच गई थी (Nanavati and Anjaria 1947; Athreya, 2013)।

आजादी के बाद अपनाई गई पंचवर्षीय विकास योजनाओं में कृषि क्षेत्र में तेजी लाने के लिए कृषि नीति का जोर सिंचाई में सरकारी निवेश बढ़ाने पर रहा। हालाँकि समय के साथ इसमें गिरावट आई और यह 20% से गिरकर महज 8 - 10% रह गया। सिंचित क्षेत्र में धीमी बढ़ोतरी के कारण अनाज के उत्पादन में और कमी आई। उत्पादन में कुछ खास इजाफा नहीं हुआ। जो थोड़ी-बहुत बढ़ोतरी हुई वह सिंचित क्षेत्र के बढ़ने के कारण ही (Narain 1977)। खाद्य संकट की परिणति पीएल-480 योजना के तहत संयुक्त राज्य अमेरिका से खाद्यान्न के आयात में हुई। उन दिनों खाद्य संकट योजना-कार्यक्रमों की राह में आड़े आ रही थी। इसलिए औद्योगिक विकास दर को बरकरार रखने के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाना जरूरी था।

1.3 हरित क्रांति का दौर

साठ के दशक की शुरुआत में खाद्य असुरक्षा और कम हो रहे उत्पादन से उबरने के लिए सरकार ने कृषि विकास के किए कई कार्यक्रम शुरू किए। उसे नई कृषि रणनीति (NAS) का नाम दिया गया। उसके तहत, अधिक उत्पादन के लिए नए किस्म के बीज और खाद, नई तकनीकी, कृषि विषयक शोध में सुधार, खेती के लिए ऋण, और उच्च-मूल्य की चीजों के लिए विविध प्रकार के फसलों की खेती और सिंचाई के मिले-जुले “पैकेज” को अपनाने पर खूब जोर डाला गया (Dantwala 1986)। अंतत: यह कार्यक्रम 'हरित क्रांति' के नाम से जाना गया।

धनागरे (1987) के मुताबिक:

> उम्मीद यह की गई कि नई कृषि रणनीति से न केवल हमेशा से मौजूद रही ग्रामीण गरीबी और भूख का अंतिम तौर पर समाधान हो जाएगा, बल्कि इससे एक नया संसाधन-आधार भी तैयार हो सकेगा। इस आधार के सहारे ग्रामीण औद्योगीकरण की उड़ान भरी जा सकेगी, जो रोजगार के नए अवसरों को जन्म देने के साथ-साथ जमीनी स्तर पर जीवन की गुणवत्ता को बेहतर करेगा (पृष्ठ 84)।

नई आर्थिक रणनीति का प्रमुख तौर पर चार स्तरों पर फोकस रहा – उत्पाद मूल्य, कृषि ऋण, बीज और खाद में छूट तथा बिक्री। यह पाया गया कि आधुनिक तकनीकी के अपनाए जाने के लिए कृषि उत्पादों के उच्च प्रोत्साहन मूल्य जरूरी है। इसलिए 1965 में कृषि मूल्य आयोग (APC) वजूद में आया। उसका प्रमुख काम प्रोत्साहन मूल्य के निर्धारण में सरकार की मदद करना और जमीन व अन्य संसाधनों के विवेकसम्मत इस्तेमाल के लिए

[1] 1985 में इसका नाम बदलकर कमीशन फॉर एग्रीकल्चरल प्राईस एंड कोस्ट (CACP) कर दिया गया।

निर्देश देना था। उसे दो तरह के मूल्यों पर सलाह देनी थी। एक तो न्यूनतम समर्थन मूल्य और दूसरा, वसूली या क्रय मूल्य।

1965 में भारतीय खाद्य निगम (FCI) की स्थापना की गई।उसका काम खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए देश भर से अनाज खरीद कर गोदामों में जमा करके रखना था। इसके अलावा, उसे गरीबों को कम कीमत पर अनाज मुहैया करना और घरेलू कीमत की स्थिरता कायम रखना था।

1969 में बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया। कृषि ऋण को प्राथमिकता दी गई तो गाँवों में ऋण मिलना थोड़ा सुविधाजनक हो गया। यह कुछ हद तक सूदखोर महाजनों के शोषण भरे चंगुल से छुटकारा दिलाने में भी सहायक सिद्ध हुआ (Shetty, 1977; Chavan, 2002)।

1970 की छूट नीति के तहत खाद, कीटनाशक, सिंचाई के लिए बिजली, आदि पर छूट मिलने के चलते किसानों पर आर्थिक बोझ कम हुआ। कृषि बाजार के सुचारु संचालन और विनिमय में अनियमितता कम करने के लिए कृषि उत्पाद और बाजार समिति (APMC) आवश्यक वस्तु कानून बनाए गए।

इसमें कोई दो राय नहीं कि सत्तर के दशक के मध्य में उत्पादकता और उत्पादन में तेजी आई। अस्सी का दशक आते-आते खाद्यान्न के मामले में हम आत्मनिर्भर हुए। लेकिन यह उपलब्धि नई आर्थिक रणनीति में निहित संभावना से बहुत ही कम थी। हरित क्रांति ने भारतीय कृषि में भारी बदलाव लाए। उन्नत बीजों, खादों, कीटनाशकों के उपयोग और साथ ही, विद्युतीकरण और मशीनीकरण के कारण उत्पादन के साधन में बदलाव आए। इसने ग्रामीण समाज को प्रभावित किया। यद्यपि हरित क्रांति की वजह से चावल और गेहूँ के उत्पादन में बढ़ोतरी आई, लेकिन दलहन और तिलहन जैसे फसलों पर उसका प्रभाव नकारात्मक पड़ा। कारण इस दौरान इनके फसल की जमीन में तेजी से कमी आई और इनके लिए हम आयात के मोहताज हुए।

यह बात भी खुल कर सामने आई कि हरित क्रांति से भूमिहीन और ऐसे अन्य बड़े तबके लाभान्वित नहीं हुए। उल्टे अमीरी और गरीबी के बीच का फासला बढ़ा (Griffin, 1979; Jodhka, 1994)। ग्रिफिन इस नतीजे पर पहुँचे कि नई किस्म के बीजों और अन्य अनुषंगी तकनीकी के अपनाए जाने की परिणति प्रति व्यक्ति कृषि उत्पादन को बढ़ाने या कुपोषण को घटाने में नहीं हुई। हरित क्रांति ने एशिया और लैटिन अमेरिका में बाजारोन्मुखी पूँजीवादी कृषि-विकास को तेज किया। फलत: खेतिहर मजदूरों का एक वर्ग पैदा हुआ। इसने भूस्वामियों की ताकत को

और बढ़ा दिया, वर्ग का ध्रुवीकरण किया और उसमें निहित संघर्ष को बढ़ाया।

हरित क्रांति का बंधुआ श्रम पर गहरा प्रभाव पड़ा। जोधका (1994) के मुताबिक, 'बंधुआ श्रमिकों की हैसियत वह नहीं रही जो उन्हें गरीबों के बीच खास बनाता था। खुद के बारे में उनकी वह सोच भी न रही। बंधुआ श्रम प्रणाली में श्रमिक बिना ब्याज के ऋण के लिए अपनी आजादी गिरवी पर रखते थे'। हरित क्रांति के फायदे भारत के कुछ ही हिस्सों तक पहुँच सके। उसका लाभ केवल बड़े और पूँजीपति किसानों को मिला। छोटे और सीमांत किसानों का अच्छा-खासा हिस्सा न के बराबर लाभान्वित हुआ। इतना ही नहीं, इस दौरान गरीबी खूब बढ़ी।

दूसरे शब्दों में, हरित क्रांति खास वर्ग (धनी और पूँजीपति किसान), खास क्षेत्रों (पंजाब, हरियाणा और कुछ हद तक पश्चिम बंगाल) और कुछ फसलों (चावल और गेहूँ) तक सीमित रहा।

1.4 कृषि और नव-उदारवाद

नब्बे के दशक की शुरुआत में भारत ने 'मुक्त-बाजार नीति' और 'बाहर के लिए खुलेपन' पर केंद्रित नई आर्थिक नीति को अपनाया। इस क्रम में बनाई गईं राष्ट्रीय नीतियों का ग्रामीण अर्थव्यवस्था और कृषि पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा। वैश्विक स्तर पर अर्थव्यवस्था में आए बदलाव के बारे में अकरम-लोधी (1998) ने बड़े ही अच्छे से कहा है:

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का उत्पादन, विनिमय और वित्त के वैश्विक चक्र में निरंतर एकीकरण होता चला गया है। इसके साथ-साथ संचय के वैश्वीकरण की प्रक्रिया मजबूत और उसमें राज्य की भूमिका कमतर हुई है। इन बदलावों से कृषि समेत अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्र प्रभावित हुए हैं (पृष्ठ 135)।

नव-उदारवाद के नए संदर्भ में 'कृषि प्रश्न' को समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि खुद नव-उदारवाद का इस प्रश्न के प्रति क्या रुख है। नव-उदारवाद के पैरोकारों के मुताबिक पहले की औद्योगिक और व्यापारिक नीतियाँ संरक्षणवादी थीं। कृषि को व्यापार की शर्तों से बांध दिया गया था (Ramakumar et al, 2009)। उनके हिसाब से यदि किसानों को उचित कीमत मिले तो वे उपज बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित होंगे।

कृषि के नव-उदारीकरण के पक्षधरों ने और भी कुछ दलील दिए। पहला, वित्तीय उदारीकरण और कृषि ऋण व्यवस्था को नियमित किया जाना चाहिए। दूसरा, मौजूदा कृषि बाजार नियमों के कारण किसानों को अपने

उत्पादों की उचित कीमत नहीं मिल पाती और, न ही वे खरीददारों के सीधे संपर्क में आ पाते हैं। ऐसे में ठेके पर खेती उचित उपाय हो सकता है। इससे किसानों को तयशुदा कीमत मिलेगी और उनके विविध किस्म की खेती के प्रयास को बढ़ावा मिलेगा। तीसरा, मौजूदा भूमि सुधार कानून में सुधार किया जाना चाहिए ताकि किसान और निजी प्रतिष्ठान बिना किसी बाधा के जमीन पट्टे पर दे सकें। इससे कृषि के क्षेत्र में पूँजी के निवेश द्वारा बड़े पैमाने पर खेती की जा सकेगी। इसका नतीजा यह होगा कि खेती की औसत लागत-मूल्य में कमी आएगी। चौथा, नई तकनीक में निजी प्रतिष्ठानों के निवेश से कृषि के विकास में तेजी आएगी।

1991 के बाद नई आर्थिक नीति के कारण कृषि को सहारा देने वाली सांस्थानिक संरचना ढीली पड़ गई (Ramachandran, 2011; Ramachandran et al, 2010)। सरकारी ग्रामीण बैंकों का विस्तार रुका और अनौपचारिक क्षेत्र के लिए दरवाजे खोल दिए गए। 1995 के बाद बड़ी संख्या में ग्रामीण बैंक बंद कर दिए गए (Chavan, 2005)। खेती और उससे जुड़े अन्य क्षेत्रों खासकर, सिंचाई, शोध और विकास में सरकारी मदद में भारी गिरावट आई। कृषि अर्थव्यवस्था के आकार के लिहाज से कृषि के लिए दी जाने वाली छूटों में कटौती की गई। इन नीतियों के परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्र में घोर 'कृषि संकट' पैदा हुआ, जिसका गवाह भारत के विभिन्न हिस्सों में हो रही किसान आत्म हत्याएँ हैं। सरकार की उदासीनता के चलते देश भर में तीन लाख से ज्यादा किसानों ने मौत को गले लगा लिया (Nagaraj, 2008)।

2. मौजूदा दौर में कृषि संकट

इस हिस्से में नवउदारवाद के तहत लागू की गई कुछ कृषि नीतियों के नतीजे का आँकड़ों के आधार पर विश्लेषण किया जाएगा। साथ ही, मौजूदा कृषि संकट से इसके ताल्लुक की जाँच की जाएगी। इसमें कोई दो राय नहीं है कि आज जिस कृषि संकट से हमारा सामना हो रहा है उसमें नब्बे के दशक की शुरुआत में नई आर्थिक नीति के अपनाए जाने से तेजी आई थी।

2.1 अकाल, सूखा और जलवायु परिवर्तन

हाल के दशक में नीति-निर्माताओं, अकादमिकों, वैज्ञानिकों, पर्यावरणविदों और बुद्धिजीवियों के बीच जलवायु परिवर्तन और इसके नतीजे बड़े बहस के विषय के रूप में उभरा है। बाढ़, सूखा और अन्य प्राकृतिक आपदाएँ इसे स्पष्ट तौर पर बयाँ करती हैं।

दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बारिश में कमी-ज्यादा, दोनों नजारे दिखलाई दे रहे हैं। इससे खाद्य सुरक्षा और आजीविका बड़े ही बुरे रूप में प्रभावित हुए हैं। इसके अलावा, बारिश की अनियमितता के कारण भूजल का स्तर प्रभावित हुआ है जिसका कृषि अर्थव्यवस्था और लाखों गरीबों की जिंदगी पर सीधा असर पड़ता है (Islam et al, 2012; Kumar and Parikh, 2001)।

सूखा और अकाल कोई नई परिघटनाएँ नहीं हैं। यदि 1900 से ही देखें तो दुनिया भर में 1 करोड़ 10 लाख लोग इनका ग्रास बन गए और 1 अरब लोगों की ज़िंदगी इससे तबाह हुई (FAO, 2013)। बाद के दिनों में इसकी अवधि और गहनता ज्यादा हुई। जलवायु परिवर्तन अनुमान के लिए गठित अंतरदेशीय पैनल की मानें तो आने वाले 30-50 साल के दौरान ग्लोबल वार्मिंग से समुद्र के जल-स्तर में वृद्धि होगी और इसके कारण समुद्र के किनारे रहने वाले लोगों की बड़ी आबादी को विस्थापित होना पड़ सकता है (IPCC, 2013)।

इसी तरह सेंटर फॉर लो कार्बन फीचर्स के रिपोर्ट के मुताबिक 1990-2005 की तुलना में एशिया के विभिन्न भागों को 2020 तक जबर्दस्त सूखों की मार झेलनी पड़ सकती है। खाद्य सुरक्षा के लिहाज से सोचें तो मौसम की तुनकमिजाजी से एशिया में भारत और चीन में गेहूँ और मक्के की फसल सबसे अधिक प्रभावित होगी, जो दो बड़े खाद्यान्न उत्पादक देश हैं (Foster et al, 2012)।

भारत को लगातार लंबी अवधि और व्यापक पैमाने पर सूखा झेलना पड़ा है (देखें, चित्र 1 और 2)।

चित्र 1 : 1960 से भारत में मानसून बारिश और बढ़ते सूखे का उदाहरण

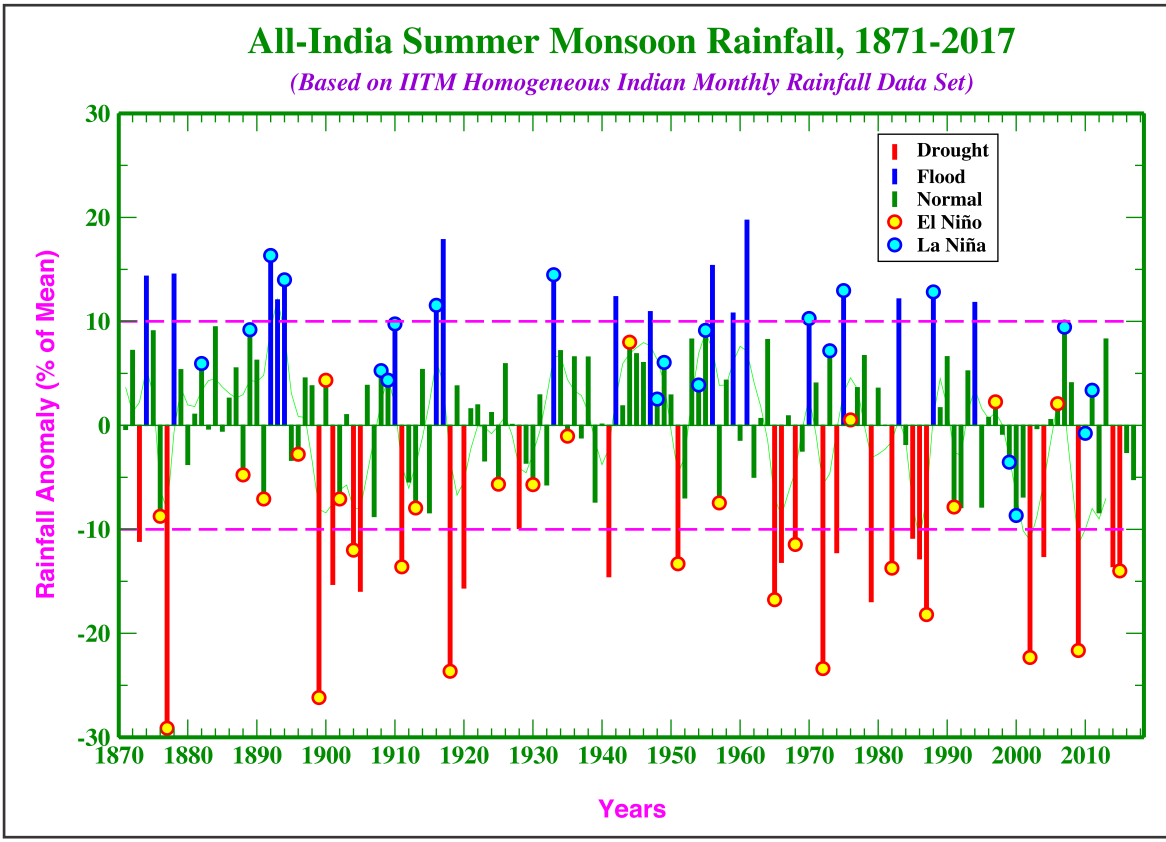

Source : https://www.tropmet.res.in/~kolli/MOL/Monsoon/Historical/aismr1871-2017-Sep-30-2017.pdf

चित्र 2: वास्तविक बारिश और प्रतिशत कमी

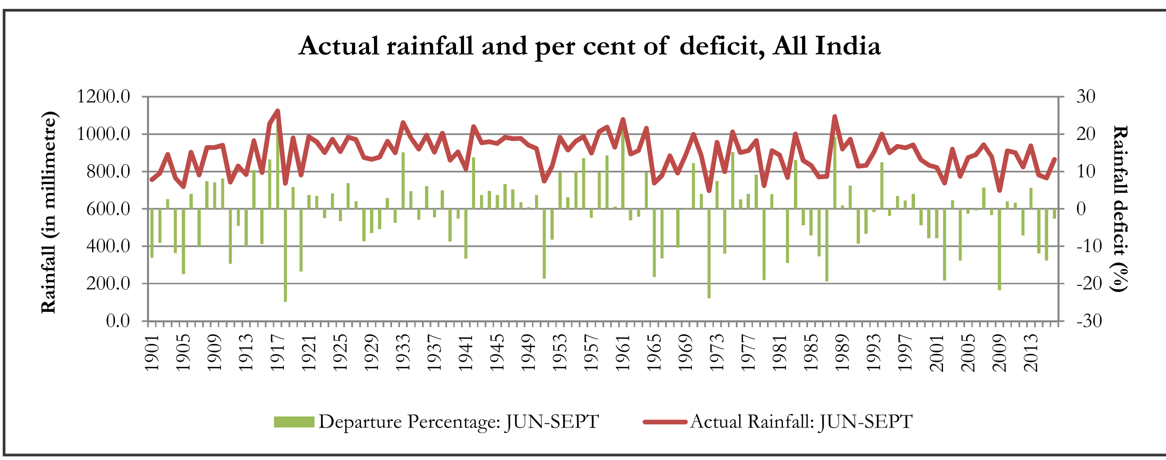

Source : Indian Meteorological Department, Government of India (See : www.data.gov.in)

आँकड़ों से पता चलता है कि बारिश में लगातार कमी होती चली गई है (जून और सितंबर के बीच)।

1973 और 2015 के बीच बारह मर्तबा बारिश सामान्य से 10% कम हुई (चित्र 2)।

बारिश में कमी और लंबे सूखे मौसम के कारण किसान पर आर्थिक बोझ दुहरा हो जाता है। एक तो उनकी फसल खराब हो जाती है और दूसरा, उन्हें फसल की दुबारा बुआई करनी पड़ती है। भारत में खराब मौसम की वजह से औसतन 30 प्रतिशत फसल नष्ट हो जाती है (FAO, 2013)।

ग्लोबल वार्मिंग में तापमान में हरेक प्रतिशत बढ़ोतरी के साथ वैश्विक स्तर पर गेहूँ में 6%, चावल में 3.2%, मक्के में 7.4% और सोयाबीन में 3.1% गिरावट आएगी।[2] फील्ड से मिले आँकड़े बताते हैं कि अतिशय जलवायु परिवर्तन के कारण रबी फसलों में तेज गिरावट आती है, भू-जल का स्तर कम है, भू-क्षरण होता है और नए किस्म के नुकसान पहुँचाने वाले कीट पनपते हैं। इन सबका घरेलू आय पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है (Udmale et al 2014)। इसके अलावा, कर्ज, उत्पादन के साधनों से वंचना, मजबूरन पलायन, स्वास्थ्य, आदि जैसे नतीजे भी इस सूची में शामिल हैं (Roy and Hirway, 2007)। सूखा बार-बार पड़ता है। यह ग्रामीण और कृषि के विकास में एक बड़ी बाधा है। छोटे और सीमांत किसान और भूमिहीन खेत मजदूर आजीविका और रोजगार के लिए के लिए कृषि पर निर्भर रहते हैं। इसके साथ-साथ, सीमित साधनों, गरीबी के उच्च स्तर और सामाजिक सुरक्षा के अभाव के कारण उनपर जलवायु परिवर्तन की चोट सबसे गहरी पड़ती है। इन सब के कारण कृषि संकट गहराता चला गया और मौसमी/पर्यावरणीय शरणार्थियों की संख्या बढ़ी।[3]

2.2 खेती की लागत में वृद्धि और आर्थिक बोझ

नव-उदारवादी नीति के अपनाए जाने के कारण खेती के लिए सरकार की तरफ से दी जाने वाली विभिन्न छूटों में भारी कटौती हुई। भारत में मुख्य तौर पर खाद, बिजली और सिंचाई पर छूट दी जाती रही है। कृषि ऋण को अप्रत्यक्ष छूट माना जाता है। सरकार की तरफ से खाद्य छूट भी दी जाती है। आँकड़े बताते हैं कि अस्सी के दशक में सकल घरेलू उत्पाद में खेती के लिए दी जाने वाली छूट के हिस्से में खासा बढ़ोतरी हुई लेकिन नब्बे के दशक से इसमें गिरावट होने लगी (VKR)। गौरतलब है कि इसमें बिजली पर दी जाने वाली छूट के हिस्से में तेजी से वृद्धि हुई

---

[2] *https://www.livemint.com/Politics/CyZL6IneKyB8pfKiXvyORJ/Each-degree-Celsius-rise-in-global-temperature-to-reduce-cro.html*

[3] मौसमी/पर्यावरणीय शरणार्थी को माइर्स और केंट (1995) ने इस तरह परिभाषित और व्याख्यायित किया है, 'ऐसे लोग जिनकी पर्यावरणीय कारणों से अपनी पारंपरिक जन्म/निवास भूमि पर सुरक्षित आजीविका की उम्मीद खत्म हो जाती है' (पृष्ठ 18)।

लेकिन खाद और सिंचाई पर दी जाने वाली छूट के हिस्से में भारी गिरावट हुई। उदारीकरण के पैरोकारों ने छूट के विरोध में तीन कारण गिनाए- (अ) इससे सरकार पर वास्तविक वित्तीय बोझ बढ़ता है, (ब) दूसरे क्षेत्रों में सरकारी निवेश कम हो जाता है और (स) खेती के साधनों की कीमत उनकी दुर्लभता मूल्य को प्रभावित करती है और इसलिए, उनके दोहन की संभावना बढ़ जाती है। इसकी परिणति पर्यावरणीय नुकसान और भूमि की गुणवत्ता के बिगड़ने के रूप होती है (Gulati and Narayanan, 2003)। उनके मतानुसार, कृषि को दी जाने वाली छूटें आर्थिक दृष्टि से जारी न रखे जाने लायक...किसानों के लिए नाकाफी और महँगा थीं (Parikh, 1997, p.11)।

हालाँकि, यह प्रमाणित किया जा चुका है कि इन खेती के लिए दी जाने वाली छूटों से किसान को फायदा होता है (Chandrasekhar and Ghosh, 2004)।

2.3 रासायनिक खादों का अत्यधिक उपयोग और खेती की लागत

नई आर्थिक नीति के कारण अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में कई बहु-राष्ट्रीय निगमों के प्रवेश की राह खुली। रसायन (खाद और कीटनाशक) का क्षेत्र इसका अपवाद नहीं था। खेती के लिए जरूरी सामग्री पर दी जाने वाली छूट में भारी कमी के कारण ये किसान के लिए महँगे हो गए। खासकर छोटे व सीमांत किसान पर आर्थिक बोझ बढ़ गया। उत्तम बीज संरक्षण और कीटों को खत्म करने के पारंपरिक तरीके छोडकर किसान एग्रो-केमिकल कंपनियों पर आश्रित होने को मजबूर हो गए। अविवेकपूर्ण (अवैज्ञानिक प्रयोग, जागरूकता के अभाव के कारण सुरक्षात्मक उपाय न अपनाना) इस्तेमाल के चलते रासायनिक खाद और कीटनाशक प्राकृतिक संसाधनों के क्षरण, उत्पादकता में कमी, भू-क्षरण, स्वास्थ्य और पर्यावरण के बिगड़ने का बड़ा सबब बनकर सामने आए हैं (Devi 2010, Jayaratham 1990)।

अमेरिका, जापान और चीन के बाद भारत कीटनाशकों का चौथा बड़ा उत्पादक देश है। हालाँकि भारत की सभी शीर्ष 10 एग्रो-केमिकल कंपनी विदेशी हैं। उनमें से अधिकांश कंपनी यूरोपीय संघ और पश्चिमी देशों में प्रतिबंधित हैं। भारत उनके लिए संभावित बड़े बाजार के रूप में उदित हो रहा है।

2015 के वित्तीय वर्ष में इस क्षेत्र ने 4.4 बिलियन अमरीकी डॉलर का व्यापार किया। उम्मीद है कि 7.5 प्रतिशत प्रति वर्ष वृद्धि दर के साथ 2020 तक यह 6.3 बिलियन डॉलर के आँकड़े को छू लेगा।[4]

दूसरे शब्दों में, प्रतिवर्ष वैश्विक एग्रो-केमिकल के 4 प्रतिशत का उपभोक्ता भारतीय किसान है। और यह स्वास्थ्य

[4] *http://ficci.in/study-page.asp?spid=20744&sectorid=7*

संबंधी मसलों के लिहाज से चिंताजनक है। 2007-08 से 2014-15 के दौरान भारत में कीटनाशकों का प्रयोग 55.6 हजार टन से बढ़कर 61.8 हजार टन हो गया। यह बढ़ोतरी 25% थी। एक अध्ययन के मुताबिक विकासशील देशों में हरित क्रांति के बाद तकरीबन 8 लाख लोग कीटनाशकों के प्रयोग के चलते काल कलवित हो गए। और इस वजह से लगभग 20 हजार लोगों की हर साल मौत होती है (Bhardwaj and Sharma 2013, FICCI, 2017)।

हाल के समय में विदर्भ से साँस पर कीटनाशकों के प्रभाव के कारण लोगों की जान जाने की परेशान करने वाली खबरें आ रही हैं।[5] वहाँ कपास और धान प्रमुख फसल हैं जिनमें अच्छी-खासी मात्रा में (68%) कीटनाशकों का प्रयोग किया जाता है। हालाँकि केवल 5% जमीन पर कपास की खेती की जाती है लेकिन इसके लिए कुल कीटनाशकों का 50% इस्तेमाल किया जाता है। धान की खेती 24% जमीन पर की जाती है और उसमें 18% कीटनाशकों का इस्तेमाल किया जाता है। यह भी पाया गया कि आत्महत्या करने वाले किसानों की संख्या और रासायनिक कीटनाशकों के इस्तेमाल के बीच सहसंबंध है। राज्यवार विश्लेषण बतलाता है कि आंध्रप्रदेश (तेलंगाना समेत), महाराष्ट्र, पंजाब और कर्नाटक सबसे ज्यादा 50% से ज्यादा कीटनाशक इस्तेमाल करने वाले राज्य हैं और इन्हीं राज्यों में 52% से ज्यादा किसानों ने अत्महत्या की।

2.4 घरेलू कर्ज और संकट

कृषि संकट और परेशानी को ग्रामीण कर्ज से जोड़ कर देखा गया है। किसान आत्महत्या पर सरकार को सौंपे गए कई रिपोर्ट ने भी इस बात की पुष्टि की है कि इन आत्महत्याओं की एक बड़ी वजह किसानों के ऊपर कर्ज है।[6] महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ – इन पाँच राज्यों में कर्ज का स्तर उच्च था और वहाँ कुल किसान आत्महत्याओं की दो-तिहाई आत्महत्याएँ हुई हैं (Nagraj, 2008)।

खेती में अच्छी गुणवत्ता की सामग्री और मशीन के उपयोग के लिए किसान प्राय: कर्ज लेते हैं। इसके अलावा अन्य जरूरतों मसलन, स्वास्थ्य, शिक्षा और शादी-ब्याह के लिए भी वे कर्ज लेते हैं।

अखिल भारतीय कर्ज और निवेश सर्वेक्षण (AIDIS), जो राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण का हिस्सा है, दो पक्षों को संज्ञान में लेता है – ग्रामीण परिवारों द्वारा कर्ज की माँग और कर्ज देने वाली एजेंसी (संस्था और गैर संस्था दोनों) (GoI, 2014)।

[5] *https://indianexpress.com/article/india/vidarbha-farmers-death-blaming-death-on-pesticides-campaign-by-ngos-4933459/*

[6] देखें, टाटा इन्स्टीच्यूट ऑफ सोसल साइंसेस (2005), इन्दिरा गांधी इन्स्टीच्यूट ऑफ डेवलपमेंट एंड रिसर्च (2006), योजना आयोग (2006), यशवंत राव चव्हाण एकेडमी ऑफ डेवलपमेंट एडमिनिस्ट्रेशन (२००६), डॉ. नरेंद्र जाधव कमिटी रिपोर्ट (2008)।

1991 और 2102 के बीच के सर्वेक्षणों के तुलनात्मक विश्लेषण से पता चलता है कि औपचारिक संस्थानों से कर्ज दिए जाने में भारी गिरावट आई है (देखें, तालिका 1)। AIDIS के मुताबिक ग्रामीण परिवारों द्वारा औपचारिक संस्थाओं से 1991 में 64 प्रतिशत कर्ज लिया गया। 2012 में यह घटकर 56% हो गया। वहीं, अनौपचारिक एजेंसी से यही कर्ज इसी दरमियान 36% से बढ़कर 44 % हो गया। गाँवों में अभी भी महाजन कर्ज का बड़ा स्रोत है। कुल अनौपचारिक कर्ज का 33% महाजन द्वारा दिया गया। रिपोर्ट में आया कम प्रतिशत पहले के सर्वेक्षणों के द्वारा इसे कम करके देखने के कारण हो सकता है।

तालिका 1 : स्रोत-वार कर्ज का बकाया रकम (प्रतिशत में)

	कर्जदाता एजेंसी	1991	2002	2012
(अ)	**सांस्थानिक एजेंसी**	**64.1**	**57.1**	**56.1**
	सरकार	5.7	2.3	1.3
	को-ओपरेटिव सोसाइटी बैंक	18.6	27.3	24.8
	वाणिज्यिक बैंक और RRBs	29.1	24.5	25.1
	अन्य	10.7	3.0	4.9
(ब)	**गैर-सांस्थानिक एजेंसी**	**36.0**	**42.9**	**44.0**
	जमींदार	4.0	1.0	0.7
	महाजन	15.7	29.6	33.2
	व्यापारी	7.1	2.6	0.1
	सगे-सांबंधी और दोस्त	6.7	7.1	8.0
	अन्य	2.5	2.6	2.0
सभी स्रोत (अ+ब)		100.0	100.0	100.0

स्रोत: AIDIS, 1991, 2002 and 2012

2.5 वित्तीय समावेशन या बहिष्करण

1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य ग्रामीण ऋण सेवाओं का विस्तार करना था। 1975 में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक वजूद में आए। उनका ध्येय छोटे और सीमांत किसानों, भूमिहीन मजदूरों, ग्रामीण कारीगरों आदि को ऋण सुविधा के दायरे में लाना था ताकि उनकी उत्पादक क्षमता बढ़ सके। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के निर्देश के अनुसार

वाणिज्यिक और ग्रामीण दोनों ही तरह के बैंको के लिए यह अनिवार्य किया गया कि वे अपने कुल ऋण का 40% प्राथमिकता-प्राप्त क्षेत्रों को दें। इसमें से 18% कृषि और अन्य संबद्ध गतिविधि के लिए और 10% कमजोर तबके लिए नियत किया गया।

2000 के दौरान कृषि ऋण योजना को फिर से शुरू किए जाने पर कृषि ऋण में खासा बढ़ोतरी दर्ज किया गया।[7] 1990 और 2000 के बीच यह 1.9% था। 2000 और 2007 के बीच यह बढ़कर 19.1% हो गया । 2000 में कृषि ऋण कुल ऋण का 30% था। 2007 में यह बढ़कर 52% हो गया (Ramakumar and Chavan, 2014)। इसके साथ-साथ सहकारी समितियों से ऋण दिए जाने में तेजी से बढ़ोतरी हुई। हालाँकि कृषि ऋण में दिखलाई दे रहा उक्त इजाफा वास्तव में भ्रामक था। उसका कृषि से ज्यादा ताल्लुक नहीं था।[8]

2000 के दौरान कृषि में पुनर्जीवन का विद्वानों द्वारा आँकड़ों का आलोचनात्मक विश्लेषण अधिक अच्छी समझ प्रदान करता है।

पहला, उस दौरान बैंकों के कृषि ऋण में तेज बढ़ोतरी हुई। हालाँकि इसमें अच्छा-खासा हिस्सा अप्रत्यक्ष ऋण था।[9]

दूसरा, नई ऋण नीति में कृषि और अन्य संबद्ध गतिविधियों को नए सिरे से परिभाषित किया गया ताकि वाणिज्यिक, निर्यातोन्मुखी और सघन पूँजी खेतियाँ कृषि-गतिविधि मानी जाएँ।

तीसरा, कृषि में वृद्धि की सीमा को बढ़ाकर 25 करोड़ से ज्यादा करना। इससे बड़े-पैमाने के कृषि व्यापार को सहूलियत मिली।

चौथा, शहर और महानगर के वाणिज्यिक बैंकों द्वारा कृषि ऋण में खासा बढ़ोतरी (40 प्रतिशत से अधिक)।

पाँचवाँ, कुल कृषि ऋण में लंबी अवधि के कृषि लोन का घटना। दो लाख रुपए से कम का लोन 1990 में 82.6% था। 2010 में यह घटकर 44.3% हो गया। वहीं, बड़े ऋण (10 लाख रुपए से ज्यादा) का प्रतिशत

---

[7] 2004-05 से 2006-07 के दौरान समस्त वित्तीय संस्थानों द्वारा कृषि ऋण को दोगुना करने के लिए सरकार की तरफ से जून 2004 में 'व्यापक ऋण नीति' की घोषणा की गई (रामकुमार और चव्हाण, 2010)।

[8] *See Chavan (2010), 'How 'rural' is India's credit?' in The Hindu, August 12, 2010. https://www.thehindu.com/opinion/op-ed/How-lsquorural-is-Indias-agricultural-credit/article16129297.ece*

[9] प्रत्यक्ष ऋण का मतलब है सीधे कृषि और अन्य संबद्ध काम करने वालों को दिया जाने वाला ऋण। जबकि अप्रत्यक्ष ऋण उसे कहते हैं जो कृषि को सहायता देने वाले विभिन्न संस्थानों को दिया जाता है।

1990 में 1.3% बढ़कर 2010 में 20.4% हो गया। इसके साथ ही, अनुसूचित बैंकों के ग्रामीण शाखाओं का ऋण-जमा अनुपात[10] गिरकर 1991 के स्तर पर पहुँच गया। एक तरफ, अत्यधिक सूद लेने वाले महाजनों पर निर्भरता बढ़ी तो दूसरी तरफ कृषि उत्पाद की कीमत-नीति प्रतिकूल हुई। नतीजा यह हुआ कि भारतीय किसान दोनों तरफ से आर्थिक विपदा-ग्रस्त हो गया।

2.6 न्यूनतम समर्थन मूल्य

आजादी के बाद भारत के विभिन्न हिस्सों में (विभिन्न आवो-हवा वाले) कृषि के विकास के लिए नीतियाँ बनाने के उद्देश्य से कृषि प्रबंध अध्ययन (FMS) की शुरुआत की गई (Sen and Bhatia, 2004; Surjit, 2012)।

सबसे पहले इसे 1954-55 में मुंबई, मद्रास, पश्चिम बंगाल, पंजाब और उत्तर-प्रदेश – इन पाँच जगहों में और अगले साल मध्य-प्रदेश में शुरू किया गया।

FMS की शुरुआत इन दो उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए की गई। पहला, कृषि अर्थव्यवस्था और उत्पादन के हालात का अध्ययन करना और दूसरा, देश के विभिन्न भागों से कृषि प्रबंध के आँकड़े जुटाना, जो राष्ट्रीय स्तर पर कृषि नीतियों और कृषि प्रबंध प्रसार कार्यों के सूत्रीकरण के उपयोग में आ सके (Sen and Bhatia, 2004) ।

'स्टैंडिंग टेक्निकल कमिटी' की कृषि लागत संबंधित सुझावों और कृषि प्रबंध अध्ययन का अनुसरण करते हुए उपयुक्त मूल्य समर्थन नीति बनाने के उद्देश्य से सरकार ने 1970-71 में चुनिंदा राज्यों में प्रमुख फसलों की लागत मूल्य के सही-सही आकलन के लिए वृहत योजना बनाई। बाद में कृषि लागत और मूल्य आयोग (CACP) के रूप में इसे संस्थानीकृत किया गया।[11] CACP हर साल चुनिंदा रबी और खरीफ फसलों का न्यूनतम समर्थन मूल्य और खरीद मूल्य तय करता है। न्यूनतम समर्थन मूल्य तय करते वक्त इन तीन विभिन्न लागत मूल्यों का ध्यान रखा जाता है। पहला है ए2 यानी किसान का फसल तैयार करने में लगा नगद खर्च। दूसरा है ए2+ एफएल यानी फसल की नगद लागत के साथ-साथ किसान परिवार की मेहनत का मूल्य। तीसरे का नाम है सी2। इसमें किसान की नगद लागत और पारिवारिक श्रम के मूल्य के साथ-साथ जमीन का किराया और अन्य कृषि-पूँजी पर लगने वाला

[10] बैंक द्वारा दिए जाने वाले ऋण और उसकी जमा पूँजी का अनुपात।

[11] CACP कुल 23 कृषि-उत्पादों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य की सिफारिश करता है। इनमें 7 अनाज (धान, गेहूँ, मक्का, ज्वार, बाजरा, जौ और रागी), 8 दलहन (चना, तुअर, मूँग, उड़द और मसूर), 7 तिलहन (मूँगफली, सोयाबीन, तिल, सूर्यमुखी, कुसुम और रामतिल) और 4 नकदी (नारियल, कपास, गन्ना और जूट) फसल शामिल हैं।

सूद भी शामिल है।

न्यूनतम समर्थन मूल्य का मुख्य उद्देश्य यह था कि यदि उपज खूब बढ़िया हो और इस कारण उसका बाजार मूल्य कम हो जाए तो सरकार किसान से समर्थन मूल्य पर उपज खरीद कर उसे असुरक्षा की स्थिति में फँसने से बचा ले। इससे किसान अधिक निवेश और उत्पादन के लिए भी प्रोत्साहित होते। सरकारी खरीद का उद्देश्य किसानों की सुरक्षा के साथ-साथ गरीबों को कम मूल्य पर पर्याप्त खाद्यान्न भी सुलभ करना था।

किसानों को उचित मूल्य न मिल पाने और उनके बाजार की प्रतियोगिता से लाभान्वित न होने की वजह आवश्यक वस्तु अधिनियम को भी माना जाता रहा है। हालाँकि घरेलू महँगाई दर और संभावित संकट को नियंत्रित रखने के लिए आजादी के बाद से ही जानबूझकर खाद्यान्नों की कीमत कम रखी गई।

आँकड़ों पर निगाह डालें तो हम पाते हैं कि मुख्य फसलों के न्यूनतम समर्थन मूल्य की वृद्धि का दर धीमा रहा है। 2009-10 और 2013-14 के बीच समर्थन मूल्य में बढ़ोतरी हुई लेकिन उसके बाद वह सुस्त-सी हो गई (चित्र 3)। समर्थन मूल्य में हुई वृद्धि उस अवधि में लागत में हुई वृद्धि के अनुरूप नहीं थी।

चित्र 3: न्यूनतम समर्थन मूल्य, प्रमुख फसलें

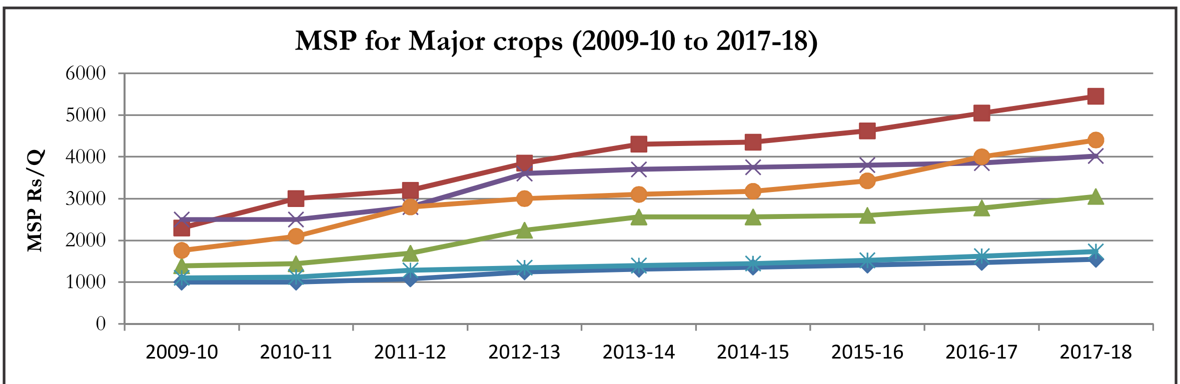

Source : Commission for Agricultural Costs and Prices (CACP), Ministry of Agriculture and Farmers Welfare, Government of India; Various years. (See : www.cacp.dacnet.nic.in)

2.6.1 न्यूनतम समर्थन मूल्य: छलावा या आश्वासन

देश भर में किसानों के धरना-प्रदर्शन का प्रमुख कारण अच्छी फसल लेकिन उसकी कम कीमत का मिलना होता है। भारत में कृषि से इतना मुनाफा नहीं हो रहा है जिससे किसान इससे जुड़े रहें।

2006 में कृषि वैज्ञानिक एम एस स्वामीनाथन की अध्यक्षता में गठित राष्ट्रीय किसान आयोग की एक बड़ी सिफारिश यह थी कि किसानों को लागत से कम-से-कम 50% अधिक न्यूनतम समर्थन मूल्य दिया जाना चाहिए।

किसान संगठन इसे लागू करने के लिए लंबे समय से माँग कर रहे हैं। किसानों को सीधे कीमत के स्तर पर समर्थन दिए जाने से उनकी घरेलू आय में इजाफा होता है। इससे कृषि घाटे का पेशा नहीं रह जाती। दरअसल, कृषि आय को 2022 तक दोगुना करना मौजूदा केंद्र सरकार का दावा भरा लक्ष्य रहा है। वर्तमान वित्त मंत्री ने 2018 के केंद्रीय बजट में बड़े ही तन कर यह घोषणा की थी स्वामीनाथन समिति की सिफारिश के अनुसार न्यूनतम समर्थन मूल्य तय किया जाएगा। लेकिन अभी तक सरकार समर्थन मूल्य तय करने के समिति के सुझाए सूत्र के पक्ष में खुलकर सामने नहीं आई है।

A2+FL के आधार पर प्रमुख फसलों के लिए घोषित समर्थन मूल्य और राष्ट्रीय कृषि आयोग द्वारा सुझाए मूल्य के बीच के अंतर के प्रतिशत का विश्लेषण तालिका 2 में दर्शाया गया है। जैसा कि आँकड़ों से पता चलता है सरकार द्वारा घोषित मूल्य आयोग के सुझाए मूल्य से 20-80% कम रहा है। गौर करने वाली बात यह है कि यह अंतर समय के साथ कपास, सोयाबीन, चावल और तुअर के मामले में बढ़ता ही चला गया है। उदाहरण के लिए, 2013-14 में कपास के लिए घोषित समर्थन मूल्य 3700 प्रति क्विंटल था जो सुझाए गए मूल्य से 43% कम था। 2017-18 में यह बढ़कर 63% हो गया। यह खेती की लागत के तेजी से बढ़ने को भी व्यक्त करता है।

तालिका 2

खरीफ फसल	2013-14		2014-15		2015-16		2016-17		2017-18	
	MSP	**NCA अंतर**	**MSP**	**NCA अंतर**	**MSP**	**NCA अंतर**	**MSP**	**NCA अंतर**	**MSP**	**NCA अंतर**
रागी	1500	-69	1550	-74	1650	-88	1725	-87	1900	-86
ज्वार	1500	-65	1530	-75	1570	-84	1625	-84	1700	-84
मूँग	4500	-59	4600	-62	4850	-55	5225	-49	5575	-53
नाइजर बीज	3500	-56	3600	-67	3650	-67	3825	-69	4050	-89
सूरजमुखी	3700	-49	3750	-55	3800	-62	3950	-68	4100	-69
उड़द	4300	-43	4350	-49	4625	-45	5000	-40	5400	-25

कपास	3700	-43	3750	-39	3800	-49	3860	-52	4020	-63
धन	1310	-41	1360	-40	1410	-41	1470	-41	1550	-44
तुअर	4300	-38	4350	-45	4625	-39	5050	-28	5450	-27
तिल	4500	-38	4600	-57	4700	-66	5000	-67	5300	-61
सोयाबीन	2560	-30	2560	-30	2600	-40	2775	-37	3050	-44
मूँगफली	4000	-27	4000	-46	4030	-56	4220	-53	4450	-38
मक्का	1310	-27	1310	-33	1325	-38	1365	-41	1425	-47
बाजरा	1250	-20	1250	-29	1275	-36	1330	-37	1425	-35

स्रोत: CACP विभिन्न साल

हालाँकि घोषित समर्थन मूल्य समिति के सुझाए मूल्य से कम रहा, भारतीय किसान उसका भी फायदा नहीं उठा सके। इसकी कई वजहें रहीं। पहला, कृषि उत्पादों की खरीद में होने वाला विलंब। भारतीय खाद्य निगम गरीबों को कम दाम में अनाज वितरित करने के लिए अनाज की खरीद और भंडारण का काम करता रहा है। कृषि उत्पादों की खरीद-बिक्री का सर्वोच्च संगठन नाफेड (NAFED) (भारतीय राष्ट्रीय कृषि सहकारी विपणन संघ लिमिटेड) समर्थन मूल्य पर सीधे किसानों से खरीद करता है। यह खरीद फसल तैयार होने के तुरंत बाद की जानी चाहिए। लेकिन ऐसा होता नहीं है। किसानों की शिकायत रही है कि इस खरीद में प्राय: देरी (कम-से-कम दो महीने) होती है। मजदूरी और खेती के लिए साधन जुटाने में हुए खर्च को चुकाने के लिए मजबूरन उन्हें अपना उत्पाद कम कीमत पर व्यापारियों को बेचना पड़ जाता है।

दूसरा, खरीदे गए अनाज की कीमत देने में सरकार की तरफ से होने वाले विलंब के चलते हाल के समय में संकट और गहराया है। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र में नाफेड ने किसानों को समय पर बकाया राशि का भुगतान नहीं किया। इसलिए ज्यादातर किसानों को अपना कृषि उत्पाद निजी व्यापारियों के हाथों बेचना पड़ा और वह भी, न्यूनतम समर्थन मूल्य से कम मूल्य पर। उससे उनकी लागत तक ऊपर नहीं हो पाई। महाराष्ट्र में मार्च 2018 तक किसानों का 1300 करोड़ रुपया बकाया था जो उनके खाते में नहीं पहुँचा था।

तीसरा, पर्याप्त आधारभूत ढाँचे, मसलन खरीदे गए कृषि उत्पाद के भंडारण के लिए जरूरी गोदाम और बोरे का अभाव।

और चौथा, हालाँकि समर्थन मूल्य के दायरे में 23 प्रमुख फसलें ला दी गई हैं लेकिन तरजीह चावल और गेहूँ को ही

मिलता है। सूरजमुखी, ज्वार, बाजरे आदि जैसे फसलों के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। इन्हें किसान कम कीमत पर बेचने के लिए विवश हैं।

2.7 कृषि उत्पाद आयात नीति

हाल के वर्षों में भारत में बदलते आयात नीति ने घरेलू कृषि उत्पादों के कीमत को प्रभावित किया है। 2015-16 और 2016-17 के दौरान बंपर उत्पादन के दावे के बावजूद सरकार ने कृषि उत्पादों, खासकर, खाद्यान्न (गेहूँ, मक्का, दाल, गैर-बासमती चावल) के आयात को बढ़ावा दिया है। इस तरह के आयात का किसानों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। घरेलू बाजार में कीमत में गिरावट के कारण वे संकटग्रस्त हुए हैं। 2014-2017 (मार्च के अंत तक) के दौरान इन अनाजों की कुल मात्रा में 110 गुना बढ़ोतरी हुई है (Ghosh, 2017)। घरेलू बाजार में गिरती कीमत किसानों के लिए ज्यादा लाभकारी नहीं रह जाता। उधर व्यापारी हैं जो घरेलू बाजार की बजाय बाहर से सस्ते में आयात करते हैं। सरकार खाद्यान्न संकट से निपटने के लिए आयात का रास्ता अख़्तियार करती है, जो किसानों के लिए दु:स्वप्न साबित होता है, खासकर यदि फसल अच्छी हुई हो। ऐसे में, किसानों को प्रोत्साहन देने और आयात को नियंत्रित करने के लिए सरकार की तरफ से हस्तक्षेप जरूरी हो जाता है। अचरज की बात यह है कि सरकार आयात पर खर्च कर रही है जबकि निर्यात पर शर्तें लागू कर रखी है। उदाहरण के लिए, बाहर से दाल के आयात पर कोई रोक-टोक नहीं है जबकि इसके निर्यात पर मात्रात्मक प्रतिबंध है।

कृषि-उत्पादों का निर्यात 2014-15 में 1.31 करोड़ रुपए का था। 2015-16 में यह घटकर 1.08 करोड़ रुपए हो गया। वहीं आयात 2010-11 में 56,196 करोड़ रुपए था। 2015-16 में यह बढ़कर 140,268 करोड़ रुपए पहुँच गया। यह 150 प्रतिशत ज्यादा था। 2014-15 और 2016-17 के दौरान दाल का आयात चालीस लाख टन से बढ़कर पचास लाख नब्बे हजार टन हो गया (47.5 प्रतिशत की बढ़ोतरी)। सरकार ने 2016 में दाल का तब आयात किया जब इसके दाम आसमान छू रहे थे। नतीजा यह हुआ कि यहाँ घरेलू बाजार में तुअर दाल की कीमत लुढ़ककर संरक्षण मूल्य से नीचे चली गई। भारत ने मोजांबिक के साथ समझौता ज्ञापन (MoU) किया है जिसके तहत वहाँ से अगले 5 सालों तक तुअर दाल का आयात किया जाएगा। आने वाले सालों में भारत मोजांबिक समेत ब्राज़ील और म्यांमार से 3 लाख टन तुअर आयात करेगा (Singh et al, 2017)।

2.8 प्रकृति की भूमिका

भारतीय कृषि में छोटे और सीमांत किसानों की अच्छी-ख़ासी संख्या है। सिंचाई के सीमित साधनों के कारण

उनकी मानसून पर निर्भरता बढ़ जाती है। ऐसे में मौसम की अनियमितता खेती को बड़े जोखिम में डाल देता है। बचाव के सीमित उपायों, गरीबी और सीमित सामाजिक सुरक्षा के कारण छोटे और सीमांत किसान मौसम के झटके से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं (Kumar and Parikh, 2001)।

खेती को कई तरह के जोखिम का सामना करना पड़ता है। मिसाल के लिए प्राकृतिक जोखिम - जलवायु परिवर्तन के कारण होने वाले बाढ़, सूखा, तूफान आदि; बाजार-स्तरीय जोखिम- फसल की लागत व कीमत और ब्याज-दर में उतार-चढ़ाव, बाजार के स्तर पर अप्रत्याशित बदलाव, राज्य की नीतियों में परिवर्तन आदि; संसाधन-स्तरीय जोखिम- श्रम, ऋण-उधार, सिंचाई, बिजली, खाद और बीज आदि की उपलब्धता का अनिश्चित होना; उत्पादन के स्तर पर जोखिम- फसल को कीटों व कीटनाशकों से होने वाला नुकसान, रख-रखाव के क्रम में होने वाली क्षति, स्वास्थ्य आदि का मसला।

उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र और विदर्भ के किसानों के कपास का फसल पिंक बॉलवर्म कीट की वजह से क्षतिग्रस्त हो गया। इससे किसानों को लगभग 120000 करोड़ रुपए का नुकसान हुआ। इतना ही नहीं, ओलावृष्टि और बेमौसम बारिश के कारण वहाँ रबी की लगभग तैयार फसल नष्ट हो गई। इसलिए किसान ऐसे अनसोचे/अप्रत्याशित जोखिमों से बचने के लिए अलग-अलग तरीके अपनाते है। यह और बात है कि सभी जोखिम के लिए बचाव-उपाय नहीं किया सकता (Singh, 2013)।

2.9 फसल बीमा: जोखिम से बचने का उपाय?

प्राकृतिक आपदा अथवा ऐसी वजह जिस पर किसानों का वश न हो, से फसल को होने वाले नुकसान से किसान को असहायता की स्थिति से बचाने के लिए फसल बीमा एक महत्वपूर्ण सुरक्षा व्यवस्था हो जाता है। भारत में प्राकृतिक अनिश्चितता से खेती-बारी खासा प्रभावित होती है। बाढ़, सूखा, तूफान, आँधी, कीटों और रोगों के आक्रमण से फसल को खूब नुकसान पहुँचता है। ऐसे में फसल बीमा से किसान को काफी मदद पहुँचती है (Hazell et al, 1999; Sinha, 2004)।

फसल बीमा की घरेलू आय को अस्थिर होने से रोकने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। योजना आयोग ने अपने रिपोर्ट में इस बारे में लिखा कि “सभी किसान आर्थिक नुकसान को झेलने का सामर्थ्य नहीं रखते। नए बीज के अपेक्षित उत्पादन न देने की अवस्था, या सिंचाई के लिए बोर वेल पर होने वाले खर्चे की भरपाई न हो पाने या अनाज के बाजार भाव के अचानक से लुढ़क जाने की स्थिति में बड़ी संख्या में आत्महत्या इसका स्पष्ट प्रमाण है।

किसानों को इस तरह के संकट से बचाने के लिए समुचित उपाय किए जाने चाहिए। भारत में फसल बीमा अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ। 2006 में कुल खेती करने वालों किसानों के केवल 4 प्रतिशत ने फसल बीमा कराया था। हाल के सालों में जोखिम के बढ़ने साथ-साथ बीमित किसानों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। 2016-17 के वित्तीय वर्ष में लगभग 40 प्रतिशत किसानों ने फसल बीमा कराया (GoI, 2017)।

2.10 भारत में फसल बीमा की दिक्कतें

भारत में किसानों के बीच फसल बीमा अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका है। इसका कारण ज्यादा प्रीमियम, सीमित कवरेज, मूल्यांकन की जटिलता और बीमा की रकम के मिलने में होने वाली देरी है। पहली फसल बीमा योजना को छोड़ कर बाकी सभी 'एक समान क्षेत्र' रुख लिए हुए रहे हैं। अधिकतर जमीन छोटे और सीमांत किसानों के पास हैं, मौसम और मिट्टी भी सब जगह एक समान नहीं है। इसके साथ ही, इन किसानों में निरक्षरता का स्तर काफी उच्च है। इसके कारण किसी किसान के उपज संबंधी सटीक आँकड़ों के मिल पाने में कठिनाई होती है। भारत के ज्यादातर हिस्सों में फसल का मूल्य काफी कम है। इसकी तुलना में प्रीमियम की राशि अधिक है जिसे चुका पाना इन किसानों के लिए महँगा पड़ता है। जबकि बीमा पर छूट है। इसलिए विकसित देशों की तुलना में भारत में फसल बीमा अधिक चुनौती भरा है। जोखिम की जटिलता और मुआवाजे की रकम के निर्धारण के लिए समुचित आँकड़े के अभाव के चलते फसल बीमा कार्यक्रम सफल न हो सका (Nair, 2010)।

विज्ञान और पर्यावरण केंद्र (CSE) ने हाल में शुरू की गई प्रधानमंत्री फसल योजना का विश्लेषण किया है। केंद्र ने पाया कि इसका लाभ खासकर निजी बीमा कंपनियों को मिला। किसान इसके फायदे से वंचित रहे। 2017 तक निजी कंपनियों को फसल बीमा के लिए कुल 15811 करोड़ रुपए प्रीमियम मिले। वहीं, उन्हें केवल 4962 करोड़ रुपए बतौर भरपाई देनी पड़ी। बीमा की रकम के दावों की कम संख्या का प्रमुख कारण राज्यों द्वारा छूट देने में की गई देरी है। इसलिए केवल 32% दावे किए गए। दावे की पूर्ति में होने वाली देरी दूसरा बड़ा कारण था। इसके अलावा राज्य सरकारों द्वारा दावे नियत करने के लिए उत्पादन की मात्रा की सीमा का निम्न होना भी योजना के सफल न होने का सबब बना (Bhushan and Kumar, 2017)।[12]

[12] भारत के नियंत्रक और महालेखापरीक्षक (CAG) ने 2017 में फसल बीमा योजना के प्रदर्शन पर रिपोर्ट सौपा है। 2011-12 और 2015-16 के बीच पड़ताल करते इस रिपोर्ट के मुताबिक इन योजनाओं की सीमित पहुँच, लाभार्थियों से संबंधित अव्यवस्थित आँकड़े, सरकार की तरफ से दिए जाने वाले हिस्से में देरी और ढ़ीले क्रियान्वयन के कारण ये ज्यादा सफल नहीं हो पाईं (GoI, 2017)।

2.11 कृषि विकास के लिए सरकारी निवेश

कृषि सेवा प्रसार के उद्देश्य से 1964 में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद (ICAR) बनाया गया। उसके बाद सत्तर के दशक में ICAR ने कृषि विज्ञान केंद्र,[13] लैब-टू –लैंड कार्यक्रम और कई शोध-आधारित कार्यक्रम शुरू किए। सरकार की सभी प्रसार सेवाओं में बीज, खाद, खेती के तरीके के बारे में ज्ञान का प्रसार करना महत्त्वपूर्ण था। यह पाया गया कि ज्ञान के प्रसार का उत्पादकता और उत्पादन पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है (Sajesh and Suresh, 2016)।

लेकिन सरकारी प्रसार सेवा केंद्रों का प्रदर्शन अच्छा नहीं रहा। 2003 के मूल्यांकन सर्वेक्षण के मुताबिक राष्ट्रीय कृषि शोध तंत्र (NARS) के प्रसार कार्यक्रमों और सेवाओं का दायरा बेहद कम था। केवल 40% किसानों को आधुनिक तकनीकी के स्रोत संबंधी कोई जानकारी थी। इनमें 16.7% हिस्सा प्रगतिशील किसानों का, 13% हिस्सा इनपुट डीलर का और 13% हिस्सा रेडियो का था। सरकारी एजेंट का प्रतिशत केवल 5.7% था (NSSO, 2005)।

जानकारी मिलने के लिहाज से किसानों के बीच स्पष्ट विविधता रही है। देश-भर के स्तर पर बड़े, मँझोले और छोटे किसानों की जानकारी तक पहुँच क्रमश: 54, 51 और 38 प्रतिशत थी। अधिक तवज्जो बीज की गुणवत्ता, उपज, खाद और कीटनाशकों के प्रयोग को दी गई थी। छोटे और सीमांत किसानों को जानकारी के लिए प्रगतिशील किसानों पर निर्भर पाया गया। सरकारी प्रसार स्रोतों तक उनकी पहुंच बेहद कम थी (केवल 4.8%)। वहीं धनी और पूँजीपति बड़े किसानों की ऐसे स्रोतों तक पहुंच ज्यादा थी (12.4%)। चूँकि भारतीय कृषि में बड़ा हिस्सा छोटे और सीमांत किसानों का है (80% से अधिक), इसलिए जन प्रसार सेवाओं के लिए सरकारी निवेश में कमी देश के कृषि विकास के भविष्य के लिहाज से गंभीर मायने रखता है।

जमीनी स्तर पर समुचित जानकारी देने के लिए पर्याप्त लोगों की कमी एक गंभीर समस्या है। भारत में 14100000 हेक्टेयर कृषि क्षेत्र और 15800000 जोत के लिए केवल 1,19,048 प्रसारकर्मी हैं। यानी एक प्रसारकर्मी के जिम्मे 1956 हेक्टेयर कृषि क्षेत्र और 1987 जोत हैं।

[13] कृषि विज्ञान केंद्र किसानों, जमीनी स्तर के प्रसारकर्मियों और अन्य स्व-रोजगारी को जरूरत के हिसाब से कौशल-उन्मुखी व्यावसायिक प्रशिक्षण देते हैं।

चित्र 4 : कृषि में सरकारी और निजी निवेश

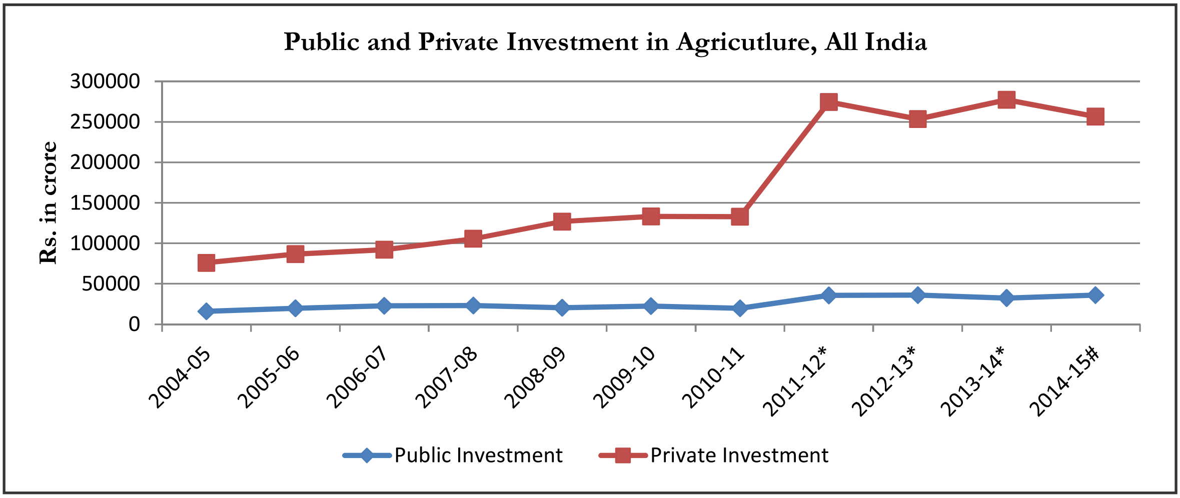

Source : Central Statistics Office, Government of India

कृषि क्षेत्र के उदारीकरण का एक उद्देश्य निजी-सार्वजनिक भागीदारी और गैर सरकारी संगठन की भागीदारी को बढ़ावा देना था। नतीजतन, 1990 के बाद कृषि में निजी निवेश बढ़ता गया। वहीं सार्वजनिक निवेश में कमी होती चली गई। केंद्रीय सांख्यिकी ब्यूरो के आँकड़े बताते हैं कि 2004-05 और 2010-11 के बीच जहाँ सरकारी निवेश कम होता चला गया वहीं निजी निवेश 59,909 करोड़ रुपए से बढ़कर 82,464 करोड़ रुपए हो गया। 2014-15 में तो यह उछलकर 220,343 करोड़ रुपए तक पहुँच गया (चित्र 4)।

2.12 नोटबंदी और खेती पर असर

2013 से 2014 तक लगातार सूखे की वजह से किसानों के फसल को काफी नुकसान पहुँचा। उन्हें बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ा। 2016 में तनिक अच्छी बारिश हुई तो उत्पादन में हल्का सुधार हुआ। लेकिन तभी केंद्र सरकार ने नोटबंदी की घोषणा कर दी और उम्मीद की जो हल्की किरण दिखी थी वह बुझ गई। 500 और 1000 के नोटों के बंद होने के कारण नकदी में कमी आई और उससे किसानों को अनाज बेचने और खेती के लिए जरूरी साधन खरीदने के स्तर पर भारी परेशानी का सामना करना पड़ा। मुद्रा में हुए बदलाव का ग्रामीण इलाकों के सहकारी बैंकों पर भी असर पड़ा जो कृषि ऋण के प्राथमिक स्रोत हैं। नतीजा यह हुआ कि किसान महाजनों के मोहताज हो गए। छोटे और सीमांत किसान भारी कर्ज के बोझ तले आ गए।

3. विकिसानीकरण और पलायन की विवशता

समाज के विकसित और आधुनिक होने के साथ-साथ अर्थव्यवस्था में ढाँचागत बदलाव होता जाता है। रोजगार और उत्पादन मूल्य के लिहाज से कृषि अर्थव्यवस्था का प्राथमिक क्षेत्र नहीं रह जाता। बल्कि द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रों (उद्योग और सेवा क्षेत्र) की महत्ता और मूल्यवत्ता बढ़ती चली जाती है। दूसरे शब्दों में, अर्थव्यवस्था के विकास और समाज के आधुनिक होते जाने की प्रक्रिया के संग-संग कृषि में मंदी (मजदूरों की उपलब्धता के लिहाज से) होती चली जाती है। संसाधनों का कृषि से उद्योग की तरफ स्थानांतरण होने लगता है। खेत मजदूर खेती की बजाय द्वितीयक कार्यक्षेत्रों की तरफ रुख करने लगते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में ढाँचागत बदलाव होने के बावजूद ग्रामीण समाज की अच्छी-ख़ासी आबादी अभी भी आजीविका के लिए खेती पर आश्रित है। इस प्रकार अतीत की बात हो या फिर आज की, भारत के गाँवों में शक्ति संबंध की बुनियाद जमीन और उत्पादन के साधनों पर हक में रही है। दलित और आदिवासी जैसे हाशियाकृत समूहों के लिए जमीन पर हक और उसके वितरण का मसला न केवल उनकी आर्थिक बेहतरी और सामाजिक हैसियत के लिए बल्कि कई मौलिक अधिकारों को हासिल करने के लिए भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

भारत में कृषि प्रश्न के अनसुलझे रह जाने के कारण जाति, वर्ग और जेंडर के आधार पर भेदभाव और गरीबी बरकरार हैं (Ramachandran and Ramakumar, 2000)। बढ़ती आर्थिक असमानता, अनुचित भूमि स्वामित्व, गरीबी और घाटे की खेती की वजह से विकिसानीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। बड़ी संख्या में छोटे और सीमांत किसानों ने खेती छोड़ दिहाड़ी मजदूरी (कृषि और गैर-कृषि दोनों क्षेत्रों में) और पलायन करने लगे (Raut 2017)।

3.1 आउटलाइनर कृषक के रूप में खेत मजदूर

विगत सालों में छोटे और सीमांत किसानों की खेती छोड़ कर मजदूरी करने की विवशता ने विकिसानीकरण की प्रक्रिया को तेज किया है। ऊपरी तौर पर सेंसस आँकड़े यह दर्शाते हैं कि आजादी के बाद कृषि श्रम शक्ति (खेती और मजदूरी करने वाले) में गिरावट हुई है। लेकिन इस गिरावट में खेती करने वालों का हिस्सा ही ज्यादा है। यानी कुल श्रम शक्ति की आंतरिक संरचना को देखें तो खेती करने वालों हिस्सा तेजी से कम हुआ है जबकि खेत मजदूरों का हिस्से में खासा बढ़ोतरी हुई है (Patel, 1952 and 1994; Patnaik, 1985; Vaidyanathan, 1986; Bhalla, 1993)।

तालिका 3 : कुल श्रमशक्ति में खेतिहरों और खेत मजदूरों की स्थिति (संख्या और प्रतिशत)

साल	मुख्य		सीमांत		कुल	
	खेतिहर	खेत मजदूर	खेतिहर	खेत मजदूर	खेतिहर	खेत मजदूर
संख्या (मिलियन में)						
2001	103.2	63.4	24.4	44.0	127.6	107.4
2011	95.8	82.2	22.9	58.2	118.7	144.3
कुल श्रमशक्ति में हिस्सा (प्रतिशत में)						
2001	25.6	15.8	6.1	10.9	31.7	26.7
2011	19.9	17.1	4.8	12.1	24.6	30.0
2001 से 2011 के बीच वृद्धि दर (प्रतिशत में)						
2001-11	-7.2	29.7	-6.1	32.3	-7.0	34.4

स्रोत : भारत की जनगणना

टिप्पणी : ग्रामीण और शहरी दोनों ही स्तरों पर

2001 और 2011 के बीच के मुख्य और सीमांत किसान संबंधी आँकड़े इस बात की पुष्टि करते हैं (तालिका 3 देखें)। 2001 में मुख्य खेतिहर की संख्या दस करोड़ तीस लाख (कुल श्रम शक्ति का 25.6%) थी। 2011 में उनकी संख्या कम होकर नौ करोड़ पचास लाख अस्सी हजार (कुल श्रम शक्ति का 19.9%) हो गई। वहीं, खेतिहर मजदूरों का प्रतिशत 26.7% से बढ़कर 30% हो गया।[14] इस अवधि में कुल श्रम शक्ति में तीन करोड़ चालीस लाख नए खेत मजदूर जुड़े।

कुल कृषि श्रम शक्ति में गिरावट की वजह रोजगार गारंटी योजना को बतलाया जा रहा है। इसके अलावा, किसान परिवार के सदस्यों की खेती के काम में घटती रुचि, शिक्षा प्रसार, गैर कृषि कामों में उच्च मजदूरी, बढ़ता शहरीकरण और कृषि संकट का भी इसमें बड़ा हाथ है (Hirway, 2012, Thomas, 2012; Kannan and Raveendran, 2012; Chand and Srivastava, 2014)।[15]

---

[14] पी साईनाथ, ओवर 2000 फ़्यूअर फार्मर्स एवरीडे, द हिन्दू, 02/05/2013; 1981 और 1991 के बीच खेतिहरों (मुख्य श्रमिक) की संख्या नौ करोड़ बीस लाख से बढ़कर ग्यारह करोड़ हो गई। गिरावट 1991 के बाद आई।

[15] विद्वानों का मत है कि स्त्री श्रमशक्ति के पीछे हटने के लिए पेश किए गए तर्क कृषि में कुल श्रमशक्ति के कम होने को स्पष्ट नहीं करता है। उन्होंने पाया कि

3.2 कृषि का महिलाकरण और हताश पलायन

ग्रामीण रोजगार की विविधता और कृषि से गैर-कृषि क्षेत्र की तरफ हुए बड़े शिफ्ट के कारण एक हद तक घरेलू आय और संपत्ति में बढ़ोतरी हुई। सामाजिक तौर पर हाशियाकृत समूहों और महिलाओं की गतिशीलता थोड़ी ही बढ़ पाई। पुरुषों के नगरों और शहरों की ओर पलायन के बढ़ने के कारण स्त्रियों की कृषि में अल्पकालीन संलग्नता बढ़ी है। इस लिहाज से कृषि का महिलाकरण हो रहा है। पर गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार की उपलब्धता मुरुषों के लिए अनुकूल साबित हुआ है।

NSSO के ग्रामीण रोजगार संबंधी आँकड़े पर आधारित एक पर्चे के मुताबिक गैर-कृषि क्षेत्रों में महिलाओं की अपेक्षा पुरुषों के लिए कहीं अधिक अवसर थे। दूसरे शब्दों में, कृषि पर स्त्रियों की निर्भरता पुरुषों की तुलना में बरकरार रही; खुद की खेती हो या दूसरों की खेती में मजदूरी, महिलाएँ खेती के काम-काज तक सीमित रहीं। गैर कृषि-क्षेत्र ने पुरुषों के लिए 38% और महिलाओं के लिए 21% रोजगार मुहैया किए।

3.3 ग्रामीण मजदूरी दर

खेत मजदूरों की मजदूरी अन्य मजदूरों की मजदूरी से कम थी, लेकिन मजदूरी की वृद्धि दर उन्हीं की ज्यादा थी। ग्रामीण घरेलू आय का महत्त्वपूर्ण स्रोत होने के कारण ग्रामीण मजदूरी आजीविका की सुरक्षा के लिए बड़ा निर्धारक हो जाती है। इसके अलावा, गरीबी और जीवन स्तर के अध्ययन के लिए कृषि मजदूरी प्रतिनिधि मापक माना जाता है (Deaton and Dreze 2002)।

श्रम शक्ति का कृषि से गैर-कृषि क्षेत्र की तरफ रुख करना विकासमान ढाँचागत परिवर्तन है। इसे पश्चिमी अर्थव्यवस्था में घटित होते पाया गया है। श्रम-शक्ति की गैर-कृषि क्षेत्र में इस बढ़त से कृषि पर निर्भरता भी कम होती है। लेकिन यह पुरुषों के साथ होता है। स्त्रियों की कृषि पर निर्भरता बढ़ती जाती है। कृषि उत्पादकता और कृषि मजदूरी की दर में मजबूत सहसंबंध है। उत्पादकता बढ़ती है तो ग्रामीण मजदूरी दर में भी उछाल आता है। लेकिन भारतीय संदर्भ में उत्पादकता के लगातार कम होते जाने के परिणामस्वरूप गाँवों से शहरों की तरफ बड़ी मात्रा में पलायन हुआ है। जिन राज्यों में सकल घरेलू उत्पाद में गैर-कृषि उत्पाद का हिस्सा उच्च है वहाँ मजदूरी भी

श्रमशक्ति दूसरे कार्य-क्षेत्रों की तरफ रुख कर रही है जिसे NSSO सर्वेक्षण के लिए पकड़ पाना कठिन है (हिर्वे, 2012)। हिर्वे ने NSS के आँकड़े की विश्वसनीयता पर सवाल उठाया है; कारण यह इधर-उधर, कभी-कभार और अनियमित अनौपचारिक काम करने वालों, खुद का रोजगार करने वालों, सामान संग्रह करने वालों या खुद के उपयोग के लिए सामान बनाने वालों को कम करके आँकता है।

ज्यादा है। इसका अर्थ यह हुआ कि गैर-कृषि क्षेत्र का विकास खेत मजदूरी को सकारात्मक रूप से प्रभावित करता है (Venkatesh, 2013)। गैर-कृषि रोजगार में कृषि की अपेक्षा मजदूरी की दर उच्च रही है। यही वजह है कि ग्रामीण मजदूर उनसे आकर्षित होकर शहरों की तरफ रुख कर रहे हैं।

कृषि उत्पादकता के कम होते जाने और उत्पाद की कीमत में उतार-चढ़ाव की वजह से उत्पादक मजदूरों को ज्यादा मजदूरी नहीं दे पाए। नतीजतन, खेती के काम में बाहरी मजदूर कम होते चले गए और उनकी भरपाई परिवार के सदस्यों, खासकर महिलाओं के श्रम से करनी पड़ी (Raut, 2012)। ग्रामीण हिस्से में उच्च मजदूरी की माँग ने विगत दो दशकों में ग्रामीण मजदूर घरों (RLH) और खेत मजदूर घरों (ALH) – दोनों में घरेलू खर्च में बदलाव को प्रभावित किया है। NSSO के आँकड़ों के मुताबिक, भोजन पर औसत वार्षिक खर्च 1976-77 में 67.7% था। 2009-10 में यह कम होकर 56.2% हो गया। दूसरी तरफ, स्वास्थ्य, शिक्षा और वस्त्र पर घरेलू खर्च में तेज बढ़ोतरी हुई है (चित्र 5)।

चित्र 5 : प्रति ग्रामीण घर औसत वार्षिक खर्च

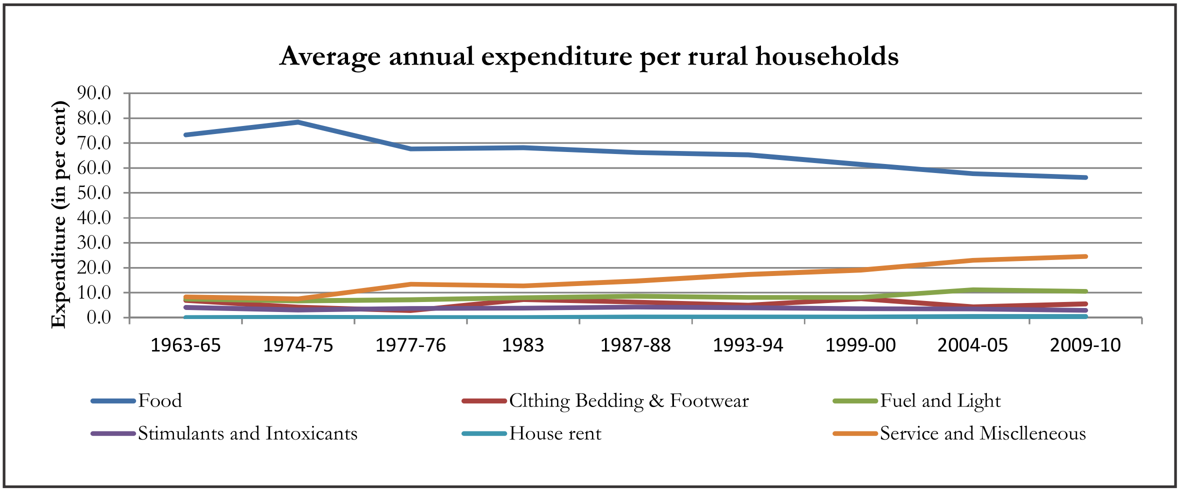

Source : Computed from 'Rural Labour Enquiry (RLE), NSSO various rounds, Ministry of Labour and Employment, Government of India.

3.4 गाँव: उज्ज्वल भविष्य या निराशा की जगह?

समय के साथ गाँवों में रहने वालों की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहचान पूरी तरह बदल गई है। सरकार की उपेक्षा के कारण गाँव व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से अनुकूल जगह नहीं रहे। वहाँ लोगों को कोई भविष्य नहीं

दिखलाई देता। वहाँ कोई सपना नहीं पाला जा सकता, कोई जोखिम नहीं उठाया जा सकता। वहाँ किसी तरह के व्यक्तिगत पहल की संभावना नहीं रही। बेहतर भविष्य की आस लगाए युवकों के लिए गाँव अवसाद-स्थल बन कर रह गए हैं।

गाँव की बदलती प्रकृति के बारे में गुप्ता ने लिखा है, 'समकालीन ग्रामीण समाज की सामाजिक और आर्थिक संरचनाएँ खुद तेजी से बदल रहीं हैं जिनसे 'गाँव' और 'किसान' की अस्मिता के साथ-साथ उनके 'गाँव' और 'खेती' के साथ जुड़ाव तय होता है (Gupta 2005)। आगे वे जोड़ते हैं कि '(आज भारत में) कृषि आर्थिक अवशेष है जो उदास संतुष्टि भरा जीवन जीने को मजबूर व कुछ न पाने वालों को उदारतापूर्वक समायोजित कर लेता है। गाँव रक्तविहीन है कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था बेजान है। अमीर से गरीब तक, गाँव छोड़ना सामान्य प्रवृत्ति है'।

हालाँकि सांस्कृतिक और भौतिक संरचना के लिहाज से गाँव बदल रहे हैं लेकिन अभी भी वे असमानता और गरीबी का अड्डा बने हुए हैं। गरीबी, आर्थिक शिथिलता और गाँव से शहर की तरफ मजबूर पलायन का प्रमुख कारण जमीन और प्रकृतिक संसाधनों का असमान वितरण है। पलायन के प्रारूप में सामाजिक वर्गजन्य विविधता है। उच्च जातियों के छोटे और सीमांत जमीन वाले प्राय: गरीबी और असुरक्षा के उपाय के तौर पर थोड़े समय के लिए गाँव से जाते हैं। जबकि हाशियाकृत समुदाय जाति आधारित शोषण, भेद-भाव और गरीबी से बचने के लिए स्थाई तौर पर पलायन करते रहे हैं (Raut, 2012)।

आशीष नंदी ने लिखा है कि एक दलित, भूमिहीन खेत मजदूर जाति-समाज के दैनंदिन कष्ट और हिंसा से बाहर निकलना चाहता है। गाँव भारत की भयावह विविधता और अज्ञेयता का प्रतीक हैं (Nandy, 2001, p.12)। भारत में कृषि में घटते प्रोत्साहन, प्राकृतिक आपदा (सूखा, बेमौसम बरसात, ओलावृष्टि और बाढ़), सरकार के कृषि को सहयोग देने से हाथ खींचने – इन सब के कारण कृषि असंतोषजनक पेशा हो गया है। एक तरफ कम उत्पादकता तो दूसरी तरफ कठोर मेहनत। कृषि ग्रामीण इलाके में युवाओं को टिकाए रख पाने में नाकाम रही है। उच्च उत्पादकता और बेहतर कमाई वाले रोजगार की तलाश में युवा गाँव छोड़ शहरों की तरफ जा रहे हैं। दरअसल आबादी का आधा हिस्सा आज आजीविका के लिए कृषि-कार्य से जुड़ा हुआ है लेकिन खेतिहर नहीं चाहते कि उनके बच्चे भविष्य में खेती से जुड़ें। ग्रामीण इलाके में बेहतर अवसरों की कमी पलायन का प्राथमिक कारण है।

3.5 खेती से विमुखता

18 राज्यों के 5000 किसान-घरों के हाल में किए गए सर्वेक्षण पर आधारित एक अध्ययन के मुताबिक 76%

किसान खेती (खुद की खेती और मजदूरी) की जगह कोई और काम करने के इच्छुक पाए गए (CSDS, 2016)। 61% से अधिक किसानों ने कहा कि वे शहर में काम करना चाहेंगे, कारण वहाँ शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार की बेहतर सुविधा उपलब्ध है। छोटी जोत की खेती में समुचित सरकारी खर्च न किए जाने, ग्रामीण ढाँचागत पिछड़ापन, मंद कृषि विकास दर और कीमत में तेजी से होने वाला उतार-चढ़ाव और शिक्षा के प्रसार के कारण कृषि की पारंपरिक हैसियत कम होती चली गई। इसलिए युवा गाँव में नहीं रहना चाहते (Leavy and Hossain, 2014; White, 2012)। वे हमेशा वहाँ से निकलने की ताक में रहते हैं। FAO और IFAD के ग्रामीण युवाओं पर किए शोध के दौरान आधे से ज्यादा ने यह कहा कि खेती से कम आमदनी होने कारण युवाओं को मजबूरन गैर-कृषि काम में लगना पड़ता है। इसलिए यह जरूरी है कि सरकार ऋण, खरीद-बिक्री और सिंचाई के स्तर पर हस्तक्षेप कर ऐसे अवसर उत्पन्न करे कि कृषि से पर्याप्त घरेलू आय मिल सके (FAO-IFAD, 2012; IFAD, 2014)।

3.6 कृषि में युवा और पलायन

ग्रामीण भारत के युवाओं को गाँवों में अपना कोई भविष्य नजर नहीं आ रहा है। गाँव अब उनके लिए रोजगार मिलने से पहले तक के इंतजार स्थल भर बन कर रह गए हैं। लेवी और हुसैन (2014) के मुताबिक युवा इन तीन बड़े कारणों से कृषि अपनाने से हिचकते हैं- (अ) छोटी जोत के साथ-साथ बुनियादी ग्रामीण संरचना और मार्केटिंग में सरकारी निवेश का अभाव, (ब) युवाओं के पास जमीन और खेती के लिए जरूरी साधन का अभाव और (स) शिक्षा के प्रसार के परिणामस्वरूप कई और अवसरों का सामने आना और इसके कारण, बतौर पेशा खेती की हैसियत का कम होना।

लेवी और हुसैन (2014:8) ने अपने रिपोर्ट में यह निष्कर्ष निकाला कि 'ग्रामीण युवाओं में औपचारिक क्षेत्र में रोजगार और आधुनिक शहरी जीवन-शैली की तमन्ना प्रबल है। खेती को पेशा के रूप में अपनाने के प्रति उनमें आम तौर पर अनिच्छा पाई गई। युवाओं का खेती से इस कदर मुँह फेरना भविष्य में खाद्य संकट ला सकता है। गाँवों में मजदूरों की कमी के कारण मजदूरी बढ़ी है। इससे खेती की लागत बढ़ जाती है। जाति के आधार पर भारत के विभिन्न हिस्सों - महाराष्ट्र में मराठों, गुजरात में पटेलों और हरियाणा में जाटों – में आरक्षण की माँग की जड़ में कृषि को बतौर पेशा न अपनाने की बढ़ती प्रवृत्ति है।

एम एस स्वामीनाथन की अध्यक्षता वाले राष्ट्रीय कृषि आयोग ने युवाओं की खेती में दिलचस्पी नहीं लेने पर

टिप्पणी करते हुए यह सुझाव दिया कि 'प्राथमिकता रोजगार/आजीविका के टिकाऊ अवसरों के अकाल को दूर करना होनी चाहिए। इसके लिए गाँवों में काम के ऐसे अवसर उत्पन्न करने होंगे जो अच्छी आय के साथ-साथ बौद्धिक तौर पर प्रोत्साहित करने वाले भी हों। यही एक मात्र उपाय है जिससे हम अपने शिक्षित युवाओं को गाँव के प्रति आकर्षित कर सकते है या उन्हें गाँव छोडकर जाने से रोक सकते हैं (GoI, 2006 : P 11)।

3.7 गैर-कृषि रोजगार और कृषि में श्रम की कमी

विगत कुछ दशकों से भारतीय श्रम क्षेत्र भारी बदलाव के दौर से गुजर रहा है। यह मजदूरी और रोजगार दोनों ही स्तरों पर देखा जा सकता है। आपूर्ति की तरफ से देखें तो जनसंख्या बढ़ने के कारण श्रम की आपूर्ति बढ़ी है। उधर रोजगार के स्रोत के रूप में कृषि से गैर-कृषि क्षेत्र की तरफ गौरतलब शिफ्ट हुआ। 1990 और 2000 के दौरान कृषि में श्रमशक्ति का आकार सिकुड़ता चला गया है (Sen, 2003, Chandrashekhar and Ghosh, 2004; Thomas, 2012)। आँकड़े के हिसाब से देखें तो 1993-94 और 2009-10 के बीच राष्ट्रीय स्तर पर रोजगार में असल में नकारात्मक वृद्धि हुई और खेत मजदूरों की संख्या में दो करोड़ ग्यारह लाख की कमी आई। वहीं, गैर-कृषि क्षेत्रों में कामगारों की संख्या में उल्लेखनीय बढ़ोतरी हुई। हालाँकि बढ़ोतरी प्रकृति में पूर्णत: अनियमित और अल्पकालिक थी (Thomas, 2012)। आज भी, ग्रामीण अर्थव्यवस्था में अनौपचारिक क्षेत्र में ही अधिक रोजगार हैं । औपचारिक क्षेत्र में रोजगार न के बराबर ही है।

ग्रामीण भारत में आर्थिक जीवन में कृषि का पहले जैसा स्थान नहीं रहा। इसलिए जमीन की मूल्यवत्ता पर भी पुनर्विचार किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ, पूँजीवाद के विकास और व्यवसायीकरण के साथ शहरी क्षेत्रों में औद्योगिक और सेवा कार्यों का उभार हुआ। इसने संसाधनों और उत्पादन के ग्रामीण-शहरी आवंटन समीकरण को बदल कर रख दिया। इन बदलावों का आजीविका के विभिन्न रूपों पर प्रभाव पड़ा और गाँवों में गैर-कृषि आर्थिक विकास की राह खुल गई (Sen 2002)। भारत के विभिन्न हिस्सों के पुनर्सर्वेक्षण से यह पता चला कि कृषक-परिवारों में गैर-कृषि काम करने वाले श्रमिकों और उनके सापेक्षिक पारिवारिक आय के अनुपात में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है (Raut, 2017; Ramachandran et al 2010)).

3.8 कृषि में रोजगार की घटती अवधि

कृषि में रोजगार के दिन भी कम हुए हैं। NSSO की रिपोर्ट से पता चलता है कि 1977-78 से लेकर 2004-05 के बीच कृषि में पुरुषों के लिए मजदूरी की समयावधि कम हुई है। वहीं स्त्रियों के लिए यह थोड़ी बढ़ी है

(RLE-NSSO रिपोर्ट)। कृषि में रोजगार के दिनों का कम होते जाना सामान्य परिघटना है। ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार के दिनों की जानकारी का एक मात्र उपलब्ध स्रोत NSSO का ग्रामीण श्रम पड़ताल है। यह ग्रामीण और कृषि के अलग-अलग आँकड़े प्रदान करता है। पुरुष के लिए रोजगार का औसत दिन देश-भर में कम हुआ है। वहीं, औरतों के लिए इसमें 1977-78 से 2004-05 के बीच मामूली बढ़ोतरी हुई है (RLE-NSSO रिपोर्ट)। सरकारी आँकड़ों में रोजगार के दिनों की संख्या के ज्यादा होने का प्रमुख कारण पूरे दिन और आधे दिन की गिनती को लेकर अपनाई गई विधि है (Dhar and Kaur, 2013)।

एक तरफ सरकारी अनुमान हैं, जो ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के दिनों की काफी अच्छी तस्वीर पेश करते हैं। दूसरी तरफ विद्वानों द्वारा किए गए सर्वेक्षण हैं जिनके मुताबिक ग्रामीण क्षेत्रों में 6 महीने से ज्यादा रोजगार नहीं मिलता। इन विद्वानों को ग्रामीण सर्वेक्षण के उपयोग का सुअवसर मिलता है। फील्ड आधारित अध्ययन में फसल के पैटर्न और कृषि व्यवहारों के साथ-साथ मजदूरों के लिए उपलब्ध रोजगार के दिनों का भी पता चल जाता है जो द्वितीयक आँकड़ों से संभव नहीं है (Ramakumar, 2004; Mehta, 2006; Dhar and Kaur, 2013)। रोजगार के लिए उपलब्ध दिन की कुल संख्या मजदूरों की माँग और आपूर्ति में अंतर का परिणाम है। खेत मजदूरी की दर में वृद्धि, बढ़ता मशीनीकरण, गैर-कृषि क्षेत्रों में रोजगार की उपलब्धता (Vijay, 2012), कृषि उत्पाद में वृद्धि, शिक्षा का प्रसार, कृषि कार्यकलापों में परिवर्तन (उदाहरण के लिए, रोजगार सुरक्षा योजना) – ये सब ग्रामीण श्रम बाजार में रोजगार के स्तर को प्रभावित करते हैं (Himanshu, 2011; Thomas, 2012; World Bank, 2012)। सूखा और अनियमित बारिश के कारण भी खेती में रोजगार के दिन के कम होने को प्रभावित किया है।

कृषि पर सरकारी खर्च और ग्रामीण विकास

कृषि विकास दर (उत्पादकता और सकल घरेलू उत्पाद में हिस्से, दोनों स्तर पर) और स्वास्थ्य व शिक्षा में सरकारी निवेश के कम होने और खेतिहर मजदूरों की बढ़ती संख्या, लेकिन रोजगार के दिनों की घटती संख्या ने गाँव से शहर की तरफ पलायन को बढ़ाया है। कृषि में अपर्याप्त सरकारी खर्च के कारण कृषि विकास दर कम हुआ है। नब्बे के दशक में नव-उदारवादी नीतियों के अपनाए जाने के कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था के प्रति अपेक्षाकृत उदासीनता बरती गई और गाँवों के लिए आवंटित खर्च में कमी आई। हालाँकि कृषि की जिम्मेदारी 'राज्य सरकार' की है लेकिन बड़े स्तर की आर्थिक नीति से तय होने की वजह से केंद्र सरकार की भी इसमें नियंता की भूमिका हो जाती है।

चित्र 6 : कृषि पर सरकारी खर्च और ग्रामीण विकास (झा, 2016)

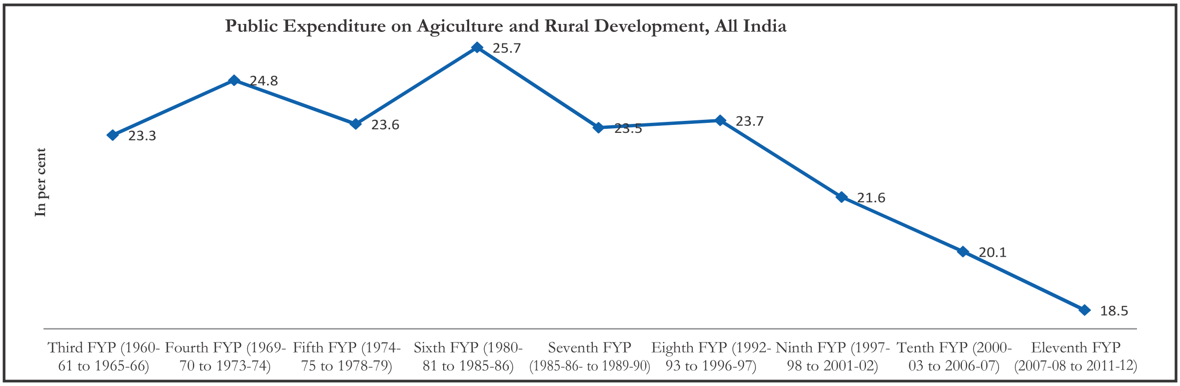

Source : Jha, Praveen and Acharya, Nilachala, 2016. "Expenditure on Rural Economy in India's Budget since 1950s: An Assessment", Review of Agrarian Studies, 1 (2): 134-156.

भारतीय कृषि के विकास दर में गिरावट की स्थिति है। दरअसल अपर्याप्त पूंजी निर्माण और कम होते सरकारी खर्च के कारण भारतीय कृषि में तकनीकी और ढाँचागत विकास सुस्त पड़ गया। इसका उत्पादकता और उत्पादन दोनों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। कुल जमा पूँजी में कृषि-पूँजी की हिस्सेदारी 1980 में 15.05% थी। 1990-91 में यह गिरकर 10.04% हो गई। आगे 2000-01 में तो यह लुढ़ककर 6.91% तक जा पहुँची (Jha 2016)। समय के साथ ग्रामीण विकास के लिए किए जाने वाले सरकारी खर्च में भी गिरावट आती गई। झा (2016) के मुताबिक, तीसरी पंचवर्षीय योजना (1960-61 से 1965-66) में कुल ग्रामीण विकास में सरकारी खर्च का हिस्सा 23.3% था। छठी पंचवर्षीय योजना (1980-81 से 1985-86) तक धीरे-धीरे बढ़ते हुए यह 25.7% हो गया। खर्च मुख्यत: सिंचाई, बिजली और अन्य कल्याणकारी कार्यों पर किया गया। नव-उदारवाद और नए आर्थिक सुधार के साथ ही गाँवों को नजरअंदाज किया जाने लगा। इसके साथ ही, कृषि और ग्रामीण विकास के लिए आवंटित खर्च में कमी आई। आठवीं से ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के बीच सरकारी खर्च का हिस्सा 23.7% से घटकर 18.5% हो गया (चित्र 6)।

कृषि के लिए बजट में प्रस्तावित और वास्तविक खर्च के बीच भी बड़ा अंतर पाया गया। आँकड़े[16] बताते हैं कि बजट में कृषि के लिए आवंटित राशि को या तो पूरा खर्च नहीं किया गया या उसे किसी और मद में डाल दिया गया या बजट को ही कम कर दिया गया (देखें, चित्र 7)। हाल-फिलहाल के आँकड़े बताते हैं कि 2011-12 और 2015-16 के बीच कृषि और उससे संबद्ध क्षेत्र में वार्षिक खर्च अनुमानित से कम रहा। विकासशील देशों में कृषि प्रश्न के न सुलझ पाने का प्राथमिक कारण ग्रामीण क्षेत्रों का पिछड़ापन है।

[1] 1985 में इसका नाम बदलकर कमीशन फॉर एग्रीकल्चरल प्राईस एंड कॉस्ट (CACP) कर दिया गया।

चित्र 7 : कृषि में सरकारी व्यय: बजट अनुमान (BE) और वास्तविक व्यय (AE)

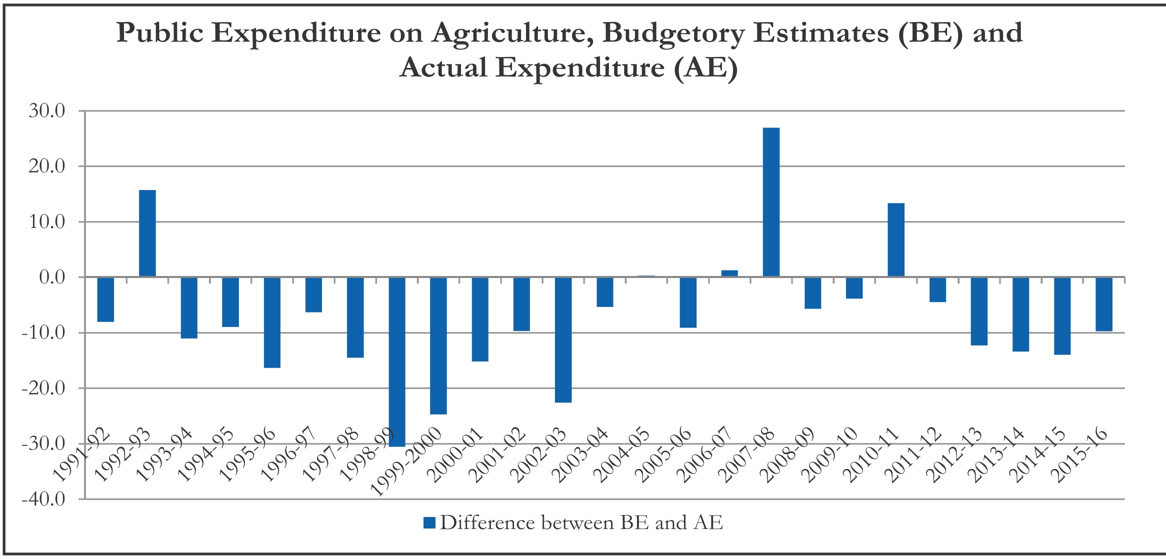

Source : Plan Documents, Planning Commission and Budget Documents of Govt. of India see: www.data.gov.in

3.9 गाँव को कम और शहर को ज्यादा तरजीह

गाँवों में गरीबी के बने रहने का कारण विकास की नीतियाँ रही हैं। उन नीतियों को शहरों में रहने वालों ने अपने लिए बनाया। गौर करने वाली बात यह है कि आबादी का बड़ा हिस्सा गाँवों में रहता है। लेकिन देश के संसाधनों का अधिकांश शहरों को दिया गया। सरकार की विकास नीतियों में शहरों को ज्यादा तरजीह दी गई, जिसकी कीमत गाँवों को चुकानी पड़ी (Lipton 1977)। राजनीतिक पहुँच के चलते शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार के अवसर और अन्य सरकारी सेवाओं व सुविधाओं का बड़ा लाभ शहरों के खाते में गया। नतीजा यह हुआ कि इन सबके लिए गाँवों की शहरों पर निर्भरता बढ़ती चली गई। लिप्टोन (1977) ने सुझाव दिया कि गाँवों के विकास के लिए यह जरूरी है कि संसाधनों का पहले कृषि क्षेत्र की उन्नति में इस्तेमाल किया जाए और उत्पादकता बढ़ाने की कोशिश की जाए।

3.10 सारांश

नब्बे के दशक की शुरुआत में ढाँचागत आर्थिक परिवर्तन से कृषि संकट और अधिक गहराया। नई आर्थिक नीति (नव-उदारवाद) के अपनाए जाने से कृषि और ग्रामीण विकास को मिलने वाली सरकारी सहायता में कमी आई। इससे छोटे और सीमांत किसान, खेत मजदूर, गरीब और हाशियाकृत समुदाय बुरी तरह प्रभावित हुए। कृषि को दी

जाने वाली छूट में भारी कटौती की गई। कृषि-शोध, प्रसार और सिंचाई में सरकारी निवेश मंद पड़ा। प्रति आवास खाद्यान्न की उपलब्धता में गिरावट आई और अनुमानित जन वितरण प्रणाली के कारण खाद्यान्न की कीमत बढ़ी। बैंकों की प्राथमिकता बदली तो ऋण के लिए किसानों की महाजनों पर निर्भरता बढ़ गई और वे कर्ज-चक्र में फँसते चले गए। कीमत में उतार-चढ़ाव रोकने के लिए किए जाने वाले सरकारी उपाय बंद कर दिए गए। नव-उदारवादी नीतियों से धनी व पूँजीपति किसानों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों को फायदा हुआ है। किसानों के संकट को बढ़ाने में प्रकृति ने भी कम बड़ी भूमिका नहीं निभाई है। देश के विभिन्न हिस्सों में क्रमवार सूखे, बेमौसम बारिश, ओलावृष्टि, कीटों के आक्रमण आदि का कृषि संकट को गहरा करने में बड़ा योगदान रहा।

क्या कृषि संकट का कोई निदान है? इसका जवाब देने के लिए इन चार मुख्य और जरूरी उपायों पर गौर करने की जरूरत है।

पहला, कृषक और किराए पर खेती करने वाले, दोनों को कम ब्याज दर पर कृषि ऋण उपलब्ध कराए जाने से उन्हें खेती में निवेश के लिए जरूरी पूँजी मिल जाएगी। इससे वे महाजनों के शोषण और चंगुल से भी निकल सकेंगे।

दूसरा, स्वामीनाथन आयोग की कीमत संबंधी सिफ़ारिशें लागू की जाएँ। आयात-निर्यात नीति किसानों के हितों का खयाल रखते हुए बनाई जानी चाहिए।

तीसरा, समुचित ढाँचा मसलन, सिंचाई, बिजली, गोदाम आदि के अभाव में किसान एक विवश विक्रेता होकर रह जाता है। इसलिए सरकारी निवेश आवश्यक है।

चौथा और अंतिम, बाजार महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बाजार की प्रतियोगिता से किसान हमेशा से बाहर रहे हैं; इसलिए कृषि उत्पादों पर प्रोत्साहन मूल्य के साथ बाजार तक पहुँच से घरेलू आय बढ़ेगी और इस देश के किसानों का जीवन-स्तर सुधर सकेगा।

इन चार उपायों के अलावा, भारत के गाँवों में कृषि संकट को तब तक ठीक से दूर नहीं किया जा सकेगा जब तक कि जाति, वर्ग और जेंडर आधारित शोषण से जुड़े सवालों को गंभीरता से न उठाया जाए। 2050 तक नौ अरब लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था अभूतपूर्व स्थिति पैदा करेगा। इसलिए समय आ गया है कि हम अपने किसानों, जमीन, प्राकृतिक संसाधनों और पर्यावरण को बचाने में जुट जाएँ।

References

Akram-Lodhi, A.H. 1998. 'The Agrarian Question, Past and Present,' Journal of Peasant Studies, 25 (49): 134-49.

Athreya, Venkatesh. 2013. 'The Current Agrarian Crisis in India: An Overview,' The Marxist, XXIX (3): 1-18.

Bhalla, Sheilla. 1993. 'Tests of Some Propositions about the Dynamics of Change in the Rural Workforce', The Indian Journal of Labour Economics, 36 (4): 428-439.

Bhardwaj, Tulsi and Sharma, J.P. 2013. 'Impact of pesticides application in agricultural industry: An Indian scenario', International Journal of Agriculture and Food Science Technology, l4 (8): 817-822.

Bhushan, Chandra and Vineet Kumar. 2017. 'Pradhan Mantri Bima Fasal Yojana: An Assessment', Centre for Science and Environment, New Delhi.

Chand, Ramesh and S.K Srivastava. 2014. 'Changes in the Rural Labour Market and Their Implications for Agriculture,' Economic and Political Weekly, 49 (10): 47-54.

Chandrasekhar, C P., and Jayati Ghosh. 2004. The Market That Failed: A Decade of Neo-liberal Economic Reforms in India. New Delhi: Leftword.

Chavan, Pallavi (2005), "Banking Sector Liberalisation and the Growth and Regional Distribution of Rural Banking:, in Ramachandran, V.K and Swaminathan, Madhura (eds.), Financial Liberalisation and Rural Credit in India, Tulika Books, New Delhi.

Chavan, Pallavi. 2002. "Some Features of Rural Credit in India: A Study after the Period of Bank Nationalisation", MPhil Thesis, Indira Gandhi Institute of Development Research (IGIDr), Mumbai.

Chavan, Pallavi. 2015. 'Rural Credit Co-operatives in Maharashtra', Economic and Political Weekly, 50 (38).

CSDS-Lokniti. 2014. State of Indian Farmers: A Report, Centre for Studies of Development Societies, New Delhi.

Dantwala, M.L. 1986. "Strategy of Agricultural Development since Independence", Indian Agricultural Development since Independence, New Delhi, pp.1-15.

Devi, P.I. 2009. 'Health Risk Perceptions, Awareness and Handling Behaviour of Pesticides by Farm Workers'. Agricultural Economics Research Journal, 22(9): 263- 268.

Devi, P.I. 2010. 'Pesticides in agriculture-A boon or a curse? A case study of Kerala'. Economic and Political Weekly, 45: 26-27.

Devi. P Indira, Thomas Judy and Raju K Rajesh. 2017. 'Pesticide Consumption in India: Spatiotemporal Analysis', Agricultural Economics Review Research, 30 (1): 163-172.

Dhanagare, D.N. 1987. 'Green Revolution and Social Inequalities in India', Economic and Political Weekly, 22 (19/21): AN137-AN139-AN141-AN144.

Dhar, Niladri and Navpreet Kaur. 2013. 'Features of Rural Unemployment in India: Evidence from Nine Villages', Review of Agrarian Studies, 3(1):14-54.

Dhar, Niladri. 2012. 'On Days of Employment of Rural Labour Households,' Review of Agrarian Studies, 2 (2): 106-115.

FAO. 2005.Drought and Water. FAOSTAT Database. Rome: Food and Agriculture Organisation of the United Nations. www.faostat.fao.org

FAO-IFAD. 2012. Facilitating Access of Rural Youth to Agricultural Activities. Summary of the findings of the project implemented by MIJARC (International Movement for Catholic Agricultural and Rural Youth) in collaboration with FAO and IFAD (International Fund for Agricultural Development). Rome: IFAD.

FICCI. 2017. 'Next Generation Indian Agriculture-Role of Crop Protection Solutions,' a report on Indian Agrochemical Industry.

Forster P, Jackson L, Lorenz S, Simelton E, Fraser E, Bahadur K. 2012. 'Food security: near future projections of the impact of drought in Asia'. The Centre for Low Carbon Futures; 2012. Available: http://www.fao.org/nr/water/aquastat/main/index.stm

Frankel, Francine. 2005. India's Political Economy 1947 - 2004. New Delhi : Oxford University Press.

Ghosh, Subir. 2017. 'When the Nation Could Not Feel the Pulse – The Spike in Prices of Tur and Urad Dal was a Fallout of Cartelisation'. Economic and Political Weekly, 52 (25-26), Web Exclusive.

GoI. 2006. Towards Faster and More Inclusive Growth: An Approach to the 11th Five Year Plan. New Delhi: Planning Commission. November.

Government of India. 2014. 'Key Indicators of Debt and Investment in India. Ministry of Statistics and Programme Implementation', NSSO.

Government of India. 2017. Performance Audit of Agricultural Crop Insurance Schemes. A Report of the Comptroller of Auditor General of India, Ministry of Agriculture and Farmers' Welfare, Government of India.

Griffin, Keith. 1979. The Political Economy of Agrarian Change: An Essay on the Green Revolution. Palgrave Macmillan (2nd Edition).

Gulati, Ashok and Narayanan, Sudha. 2003. Subsidy Syndrome in Indian Agriculture. New Delhi: Oxford University Press.

Gupta, Dipankar. 2005. 'Whither the Indian Village: Culture and Agriculture in "Rural" India'. Economic and Political Weekly, 40 (8): 751-758.

Hazell, B.R. Peter, Mishra, V.N. and Hojjati, Behjat. 1999. "Role of Terms of Trade in Indian Agricultural Growth: A National and State Level Analysis", EPTD Discussion Paper 15, International Food Policy Research Institute, Washington DC.

Hazell, P B R, C Pomareda and A Valdes. 1986. Crop Insurance for Agricultural Development: Issues and Experience. Baltimore: Johns Hopkins University Press.

Himanshu. 2011. 'Employment Trends in India: A Re-examination', Economic and Political Weekly, 46 (37): 43-59.

Hirway, Indira. 2012. 'Missing Labour Force – an explanation,' Economic and Political Weekly, 47(37):67-72.

Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC), 2013. Summery for Policy Makers. In Climate Change 2013: The Physical Science Basis. Contribution of Working Group I to the Fifth Assessment Report of the IPCC (T F Stocker, D Qin, G-K Plattner, M Tignor, SK Allen, J Boschung, A Nouels, Y Xia, V Bex, and P M Midgley (eds.). Cambridge, UK and New York USA: Cambridge University Press.

International Fund for Agricultural Development (IFAD). 2014. Youth and Agriculture: Key Challenges and Concrete Solutions. Rome: IFAD.

IPCC. 2013. The IPCC's Fifth Assessment Report. Working Group II Contribution to the IPCC Fifth Assessment Report Climate Change 2014: Impacts, Adaptation and Vulnerability.

Islam, MB., Ali, MY., Amin, M. and Zaman, SM. 2011. 'Climate Variations: Farming Systems and Livelihoods in the High Barind Tract and Coastal Areas of Bangladesh', in Lal, R., Sivakumar, M.V.K., Rahman, A.H.M.M. and Islam, K.R. (eds.), Climate Change and Food Security in South Asia. Springer Science Business Media B.V.

Jeyaratnam, J. 1990. 'Acute pesticide poisoning: A major global health problem', World Health Quarterly, 43(3): 139-144.

Jha, Praveen and Acharya, Nilachala, 2016. "Expenditure on Rural Economy in India's Budget since 1950s: An Assessment", Review of Agrarian Studies, 1 (2): 134-156.

Jodhka, Surinder. 1994. Agrarian Change and Attached Labour: Emerging Patterns in Haryana Agriculture', Economic and Political Weekly, 29 (39): A102-A106.

Kannan, K.P. and G. Ravindran. 2012. 'Counting and Profiling the Missing Labour Force', Economic and Political Weekly, 47(6):77-80.

Keith, Griffin 1974. The Political Economy of Agrarian Change: An Essay on the Green Revolution. Cambridge, Mass: Harvard University Press.

Kumar, K.S., and Parikh, J. 2001. 'Indian Agriculture and Climate Sensitivity', Global Environmental Change, 11 (2): 147-154.

Leavy, Jennifer and Naomi Hossain. 2014. 'Who Wants to Farm? Youth Aspirations, Opportunities and Rising Food Prices'. Working Paper 2014 (439). Sussex: Institute of Development Studies.

Lipton, M. 1977. Why Poor People Stay Poor: A Study of Urban Bias in World Development. London: Temple Smith.

Mehta, Niti. 2006. 'Employment Availability for Hired Workers: A Comparative Study of Two Villages', The Indian Journal of Labour Economics, 49 (3):497-515.

Mukherjee, Mridula. 1985. 'Commercialisation and Agrarian Change in Pre-Independence Punjab', Raj, K.N., Neeladri Bhattacharya, Sumit Guha and Sakti Padhi (eds.): Essays on the Commercialisation of Indian Agriculture. Delhi: Oxford University Press, pp. 51-104.

Myres, Norman and Kent, Jennifer. 1995. Environmental Exodus: An Emergent Crisis in Global Arena. Washington DC: Project on Climate Institute.

Nagraj, K. 2008. "Farmers' Suicides in India" Magnitude, Trends and Spatial Patterns", Research Report, Madras Institute of Development Studies, Chennai.

Nair, Reshmy. 2010. 'Crop Insurance in India: Changes and Challenges', Economic and Political Weekly, 45 (6):19-22.

Nanavati, M.B. and Anjaria, J.J. 1947. The Indian Rural Problem, Vora and Co. Publishers Ltd, Bombay.

Nandy, Ashish.2001. An Ambiguous Journey to the City: The Village and Other Ruins of the Self in the Indian Imagination. New Delhi: Oxford University Press.

Narain, Dharam. 1977. "Growth of Productivity in Indian Agriculture", Indian Journal of Agricultural Economics, 32 (1): 1-44.

National Commission of Farmers (NCF). 2005/2006. Reports, Government of India, New Delhi.

Parikh, Kirit. 1997. "Overview: Prospects and Retrospect", in Parikh, Kirit (ed.), India Development Report 1997, Indira Gandhi Institute of Development Research, Oxford University Press, Mumbai.

Patel, S. J. 1952. Agricultural Labourers in Modern India and Pakistan. Mumbai: Current Book House.

Patel, S. J. 1994. "Agricultural Labourers in Modern India and Pakistan", in Gyan Prakash (ed.), The World of the Rural Labourer in Colonial India, Oxford University Press, Delhi.

Patnaik, Utsa. 1985. 'On the Evolution of the Class of Agricultural Labourers in India,' in Utsa Patnaik and Manjari Dingwaney (eds.), Chains of Servitude: Bondage and Slavery in India, Madras: Sangam Books.

Raj, K.N. 1985. 'Introduction', in Raj, K.N., Bhattacharya, N., Guha, S. and Padhi, S. (eds.): Essays on the Commercialisation of Indian Agriculture. Delhi: Oxford University Press, pp. vii-xx.

Ramachandran, V. K. and Ramakumar, R. 2000. "Agrarian Reforms and Rural Development Policies in India: A Note", Paper presented at the International Conference on Agrarian Reform in Rural Development, Department of Agrarian Reform, Government of Philippines and the Philippines Development Academy, Tagaytay City, December 5 to 8.

Ramachandran, V.K. 2011. 'The State of Agrarian Relations in India Today,' The Marxist, 27(1-2):51-89.

Ramachandran, V.K. and Swaminathan, Madhura. 2001. "Does Informal Credit Provide Security? Rural Banking Policy in India", International Labour Office, Geneva, Switzerland.

Ramachandran, V.K., Swaminathan, Madhura and Rawal, Vikas. 2003. "Agricultural Growth in West Bengal", Paper presented in the All-India Conference on Agriculture and Rural Society in Contemporary India, Barddhaman, December 17-20.

Ramachandran, V.K., Vikas Rawal and Madura Swaminathan. 2010. Socio-Economic Surveys of Three Villages in Andhra Pradesh: A Study of Agrarian Relations. New Delhi: Tulika Books.

Ramakumar, R, Karan Raut and Awanish Kumar. 2009. Agrarian Change in Rural Maharashtra: Resurvey of Selected Villages, A resurvey of Dongargaon village, Akola District, Maharashtra (Research Report). Mumbai: Tata Institute of Social Sciences.

Ramakumar, R. 2004. Socio-Economic Characteristics of Agricultural Workers: A Case Study of a Village in the Malabar Region of Kerala. Unpublished PhD Thesis. Calcutta: Indian Statistical Institute.

Ramakumar, R. 2010. 'Continuity and Change: Notes on Agriculture in 'New India', in Anthony

D'Costa (ed.), A New India? Critical Perspectives in the Long Twentieth Century, London: Anthem Press.

Ramakumar, R. and Chavan, Pallavi. 2007. "Revival of Agricultural Credit in the 2000s: An Explanation", Economic and Political Weekly, 42 (52): 57-63.

Ramakumar, R. and Chavan, Pallavi. 2010. Rural Indebtedness, in V. K. Ramachandran, Vikas Rawal and Madhura Swaminathan (eds.), Socio-economic Surveys of Three Villages in Andhra Pradesh: A Study of Agrarian Relations, Tulika Books, New Delhi, 2010.

Ramakumar, R. and Chavan, Pallavi. 2014. 'Bank Credit to Agriculture in India in the 2000s: Dissecting the Revival', Review of Agrarian Studies, 4 (1), 2014.

Ramakumar, R., 2016. Agriculture and Youth in the Asia-Pacific Region: Status and Challenges with Special Reference to India", in Family Farming Meeting the Zero Hunger Challenge, Food and Agriculture Organisation (FAO) and M. S. Swaminathan Research Foundation (MSSRF), Academic Foundation, New Delhi, 2016.

Raut, Karan, 2017. Changing Agrarian Relations under Commercialisation: Resurvey of a Village in Maharashtra. Unpublished PhD Thesis. Mumbai: Tata Institute of Social Sciences.

Raut, Karan. 2012. Agrarian Change in Maharashtra, 1957 to 2007: A Re-survey of a Village in Eastern Vidarbha. Unpublished MPhil Dissertation. Mumbai: Tata Institute of Social Sciences.

Roy, A.K., and Hirway I. 2007. Multiple impacts of droughts and assessment of drought policy in major drought prone states in India. Gujarat, India: Centre for Development Alternatives.

Sajesh, V.K., and Suresh, A. 2016. 'Public-Sector Agricultural Extension in India', Review of Agricultural Studies, 6 (1): 116-131.

Sen, Abhijit and Bhatia, M. L. (2004), Cost of Cultivation and Farm Incomes, Vol.14, State of Indian Farmers: A Millennium Study, Academic Foundation, New Delhi.

Sen, Abhijit. 2002. "Agriculture, Employment and Poverty: Recent Trends in Rural India", in Ramachandran, V.K. and Swaminathan, Madhura (eds.), Agrarian Studies: Essays on Agrarian Relations in Less-Developed Countries, Tulika Books, New Delhi, pp. 392-444.

Sen, Abhijit. 2003. 'Agriculture, Employment and Poverty: Recent Trends in Rural India,' in V.K. Ramachandran and Madhura Swaminathan (eds.): Agrarian Studies: Essays on Agrarian Relations in Less-Developed Countries. New Delhi: Tulika Books, pp. 392- 44.

Shetty, S.L. (1997), "Financial Sector Reforms in India: An Evaluation", Prajnan, 25 (3-4): 253-287.

Singh, Pushpa, Brajesh Shahi and K.M. Singh. 2017. Trends of Pulses Production, Consuption

and Import in India: Current Scenario and Strategies. MPRA Paper No. 81589, Pusa: Dr. Rajendra Prasad Central Agricultural University.

Singh, Raghvendra. 2013.'Agricultural Livelihoods and Crop Insurance in India: Situation Analysis and Assessment', A Report published by The Deutsche Gesellschaft für International Zusammenarbeit GmbH (GIZ), New Delhi.

Sinha, Sidharth (2004). Agriculture Insurance in India: Scope for Participation of Private Insurers. Economic and Political Weekly, Vol. 39, No. 25, pp. 2605-2612.

Surjit, V. 2012. 'Cropping Pattern and Farming Practices in Palakurichi Village, 1918-2004', Review of Agrarian Studies, 1(1): 43-62.

Thomas, Jayan Jose. 2012. 'India's Labour Market during the 2000s: Surveying the Changes,' Economic and Political Weekly, 47(51):39-51.

Udmale, P., Ichikawa, Y., Kiem, A., and Panda, S. 2014. 'Drought Impact and Adaptation Strategies for Agriculture and Rural Livelihood in the Maharashtra State in India', The Open Agricultural Journal, 8: 41-47.

Venkatesh, P. 2013. 'Recent Trends in Rural Employment and Wages in India: Has the Growth Benefited Agricultural Labourers?', Agricultural Economics Research Review, 26 (Conference number), pp 13-20.

Vijay, R. 2012. 'Structural Retrogression and Rise of 'New Landlords' in Indian Agriculture: An Empirical Exercise', Economic and Political Weekly, 47(5): 37-45.

White, Ben. 2012. "Indonesian Rural Youth Transitions: Employment, Mobility and the Future of Agriculture", in Anne Booth and Chris Manning (eds.), Land, Livelihood, the Economy and Environment in Indonesia. Jakarta: Yayasan Pustaka Obor Indonesia. Pp.243-63.

World Bank. 2012. More and Better Jobs in South Asia. Washington DC.

NOTES

NOTES

FOCUS ON THE GLOBAL SOUTH

फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ

फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ, एशिया (थाईलैंड, फिलीपीन्स एवं भारत) में स्थित एक नीति शोध संगठन है। फोकस भारत एवं विश्व के दक्षिण भाग (यानी विकासशील देशों) में वैश्वीकरण की राजनीतिक अर्थव्यवस्था और इस प्रक्रिया में अंतर्निहित प्रमुख संस्थाओं के बारे में शोध तथा विश्लेषण प्रदान कर सामाजिक आंदोलनों एवं समुदायों की सहायता करता है। फोकस के लक्ष्य दमनकारी आर्थिक एवं राजनीतिक संरचनाओं की समाप्ति, स्वतंत्र संरचनाओं तथा संस्थाओं का निर्माण, विसैन्यीकरण और शांति को बढ़ावा देना है।

ROSA LUXEMBURG STIFTUNG SOUTH ASIA

रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफटुंग (आर.एल.एस.)

रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफटुंग (आर.एल.एस.) जर्मनी में स्थित एक फाउंडेशन है, जो दक्षिण एशिया की तरह ही विश्व के अन्य भागों में महत्वपूर्ण सामाजिक विश्लेषण और नागरिक शिक्षा के विषयों पर कार्य कर रहा है। यह एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था को बढ़ावा देता है। इसका उद्देश्य समाज एवं नीति निर्धारकों के सामने वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। यह शोध संगठनों, स्व–मुक्ति के लिए संघर्ष करने वाले समूहों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को उन मॉडल्स के विकास में उनकी पहलों में मदद देता है, जिनमें अत्यधिक सामाजिक एवं आर्थिक न्याय देने की क्षमता है।